सन्मति ज्ञानपीठ का ११६वाँ पुष्प :

श्रमण संस्कृति :
सिद्धान्त और साधना

[एक तुलनात्मक अध्ययन]

सम्पादक :

कलाकुमार

सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-२

पुस्तक	श्रमण संस्कृति : सिद्धान्त और साधना
सम्पादक	कलाकुमार
संस्करण	प्रथम : वीरजयंती १९७१ ई०
मूल्य	पाँच रुपए मात्र
प्रकाशक	सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामंडी, आगरा-२
मुद्रक	प्रेम प्रिंटिंग प्रेस, आगरा-२

SHRAMAN SANSKRITI :
SIDDHANT AUR SADHNA

आशीर्वचन

'श्रमण संस्कृति : सिद्धान्त और साधना' के रूप में जो यह प्रस्तुत में प्रयास है, उसके मूल में कलाकुमारजी की श्रमण संस्कृति के प्रति एकनिष्ठ श्रद्धा भावना ही निहित है। गतवर्ष श्री अमर भारती के ७ वें वर्ष में प्रवेश के समय ही मेरा विचार श्रमण संस्कृति पर विभिन्न मर्मज्ञ मनीषियों के विचारों को श्री अमर भारतो के माध्यम से सामान्य पाठकों तक संस्कृति की स्वस्थ जानकारी हेतु पहुँचाने का था। किंतु, श्रद्धालु जनों ने तव मेरी दीक्षा स्वर्णजयंती का समायोजन करके मेरे समीचीन युगबोधपरक विचारों के आधार पर ही श्री अमर भारती का 'विचारक्रांति अंक' प्रकाशित किया, अतः मेरा श्रमण संस्कृति सम्बन्धी विचार स्थगित रह गया।

गतवर्ष की वही विचारधारा पुनः इस वर्ष भी उमड़ पड़ी और कलाकुमारजी ने तदनुकूल अथक परिश्रम के द्वारा देश के विभिन्न चोटी के विद्वानों से सम्पर्क स्थापित करके श्रमण संस्कृति पर प्रचुर सामग्री का संकलन किया, जिसे श्री अमर भारती के दो विशेषांकों में प्रकाशित किया गया।

विषय-सामग्री के स्थायी महत्त्व को ध्यान में रखते हुए श्रीअमर भारती में प्रकाशित कतिपय विशिष्ट निवंधों को 'श्रमण संस्कृति : सिद्धान्त और साधना' नामक पुस्तक के रूप में यह अलग से भी प्रकाशित किया है।

यहाँ मैं कलाकुमारजी के विषय में इतना ही कहना आवश्यक समझता हूँ कि जव ये मेरे सम्पर्क में आए थे (जनवरी १९६९ ई०) तव ये श्रमण संस्कृति के विषय में न के वरावर ही जानते थे, किंतु श्रद्धा एवं निष्ठा का ही यह महार्घ है कि इतने थोड़े समय में ही इन्होने एक सुयोग्य शिष्य वनकर १९७० ई० मे चिंतन की मनोभूमि' जैसे विशाल ग्रन्थ का, डा० श्री वशिष्ठ नारायण सिन्हाजी के साथ, संपादन किया तथा इस वर्ष इस महान् उपयोगी पुस्तक का सपादन भी वड़ी लगन एवं तत्परता से करके यह सिद्ध कर दिखाया है कि लगन एवं गुरुजनों के प्रति श्रद्धा मानव को किस प्रकार अल्पकाल में ही उन्नति के उत्तुंग शिखर पर गौरव के साथ ला खड़ा करती है।

मैं इनके भविष्य जीवन की सर्वतोभावेन सफलता की मंगलकामना करता हूँ, और आशा करता हूँ कि ये अपनी लगन, निष्ठा, श्रद्धा एवं अध्यवसाय से भविष्य में और भी विश्वमंगलकारी कार्य संपन्न करेंगे।

सन्मति ज्ञानपीठ,
लोहामंडी, आगरा

—उपाध्याय अमरमुनि

भूमिका

भारतीय संस्कृति के निर्माण में श्रमण विचार-परम्परा का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। आद्य ऐतिहासिक काल में मानव-समाज नए रूप में व्यवस्थित हुआ। तब से निवृत्ति-प्रधान श्रमण विचार-पद्धति उल्लेखनीय रूप में सामने आई। दूसरी ओर प्रवृत्तिमूलक वैदिक परम्परा थी। प्रारम्भिक वैदिक युग में इन दोनों विचार-धाराओं में सामंजस्य स्थापित हुआ। वस्तुत: वैदिक, प्रवृत्तिमूलक धारा को मुनि–श्रमण परम्परा ने एक नया मोड़ दिया। इससे नवीन संश्लिष्ट भारतीय संस्कृति अस्तित्व में आई, जिसका विकास वैदिक काल से लेकर अब तक चला आया है।

श्रमण संस्कृति में धर्म के मुख्य लक्षणों में सदाचार का प्रमुख स्थान है। आचार-विचार के शाश्वत सिद्धान्त सदाचार में अन्तर्भुक्त हैं। जैन साहित्य में ही नहीं, जैन वास्तुकला, मूर्तिकला और चित्र-कला में भी सदाचार विविध रूपों में पल्लवित-पुष्पित मिलता है।

श्रमण विचारधारा ने समाज में आशावादिता को नई दिशा प्रदान की। भारतीय लोकजीवन में इसकी व्याप्ति उस समय तक बराबर मिलती है जबतक यह देश स्वतन्त्र रहा। राजनीतिक पराभव के समय में भी आशावादिता ने हमारा मार्ग प्रशस्त किया। पराधीनता में हमारा सांस्कृतिक प्रतिरोध जारी रहा और भारतीय संस्कृति नष्ट होने से बच सकी। इसमें हमारे ऋषि-मुनियों और संतों का योग अविस्मरणीय रहेगा।

अन्य महत्त्वपूर्ण तत्त्व जो श्रमण संस्कृति में द्रष्टव्य हैं, चिंतन-स्वातंत्र्य का वैशिष्ट्य है। धर्म-दर्शन के क्षेत्र में स्वस्थ चिंतन-परंपरा इस संस्कृति में प्रारम्भ से विद्यमान मिलती है। इसके फलस्वरूप विचार के विविध स्वतन्त्र क्षेत्र उद्भूत हुए। भारतीय इतिहास में चिंतन-स्वातंत्र्य का जैसा लोक-कल्याणकारी रूप मिलता है, वैसा अन्य प्राचीन देशों के इतिहास में उपलब्ध नहीं। भारत में चिंतन के विविध रूपों में भी समन्वयात्मक प्रवृत्ति विद्यमान रही।

इससे विघटनकारी शक्तियों का दमन हुआ और एकता की भावना को बल प्राप्त हुआ।

प्रस्तुत ग्रंथ के संपादक श्री कलाकुमार ने भारतीय संस्कृति के व्यापक रूप को सामने रखने का प्रयास किया है। श्रमण-विचार-धारा के सिद्धान्त और साधना पक्ष के स्वरूप को ग्रंथ के विभिन्न अध्यायों में स्पष्ट किया गया है। भारतीय संस्कृति के निर्माण में श्रमण संस्कृति का जो योगदान रहा है, उसकी विशद् एवं सारगर्भित विवेचना इस ग्रंथ में मिलेगी।

कृष्णदत्त वाजपेयी
प्राचार्य तथा अध्यक्ष,
प्राचीन भारतीय इतिहास,
संस्कृति तथा पुरातत्त्व विभाग,
सागर विश्वविद्यालय, सागर (म. प्र.)

प्रकाशकीय

श्रद्धेय गुरुदेव राष्ट्रसंत कविरत्न उपाध्याय अमर मुनि जी म. की महती प्रेरणा के महार्घस्वरूप इस वर्ष श्री अमर भारती का 'श्रमण संस्कृति विशेषांक' प्रकाशित किया है। उक्त विशेषांकों में स्थायी महत्त्व के निबंधों को इस पुस्तक 'श्रमण संस्कृति : सिद्धान्त और साधना' के रूप में इसलिए प्रकाशित किया जा रहा है ताकि वे युगों-युगों भूले-भटके मानवों को जीवन एवं युगधर्म का सही मार्ग दिखा सकें।

हमें विश्वास है, जिस प्रकार से श्री अमर भारती के उक्त दोनों विशेषांकों का सर्वदिश सम्मान हुआ है, यह पुस्तक भी सम्मानित होगी।

मंत्री,
सन्मति ज्ञानपीठ

सम्पादकीय

'श्रमण संस्कृति : सिद्धान्त और साधना' का प्रकाशन अपने आप में एक अभूतपूर्व घटना है। भारत में तथा भारत से बाहर विदेशों में प्रकाशित होने वाले अनेकशः पत्रों एवं पत्रिकाओं को मैंने देखा और पाया कि भारत की प्राचीनतम संस्कृति—श्रमण संस्कृति पर गहराई से एवं सांगोपांग रूप में अब तक कोई वैज्ञानिक प्रयास नहीं किया गया है। श्रमण संस्कृति के पत्रों तथा इतर श्रमण संस्कृति के पत्रों—किसी के द्वारा भी ऐसा प्रयास नहीं हुआ है। हाँ, श्रमण संस्कृतिपरक सामग्रियाँ तो अवश्य ही प्रकाशित हुई हैं, हो भी रही हैं, किंतु उनमें वैज्ञानिकता एवं क्रमबद्धता का विरल प्रयास ही होता है।

इस क्रम में मैंने श्रद्धेय गुरुदेव राष्ट्रसंत कविरत्न उपाध्याय अमर मुनिजी म. की बलवती प्रेरणा का महार्घ पाकर एक प्रयास किया है। भारत के चोटी के विद्वानों एवं सामान्य जिज्ञासुओं तक से सम्पर्क स्थापित किया। सम्पर्क में मुझे कितना कुछ सहयोग प्राप्त हुआ, लोगों में सहयोग, सहानुभूति एवं किसी महत्त्व के कार्य में साहस एवं बल प्रदान करने की कितनी कुछ भावना है, इसका प्रमाण श्री अमर भारती के श्रमण संस्कृति विशेषांकों के दोनों पुष्प हैं। यदि स्पष्ट कहूँ तो मैं यह निश्चय एवं विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि तथाकथित गण्यमान्य चोटी के विद्वानों से लेकर सामान्यजनों तक के बहुलवर्ग में धर्म एवं अध्यात्मपरक जागृति का अभावप्राय है। इसके मूल में मुख्य कारण क्या है, नहीं कह सकता।

पुनश्च, भारत के विभिन्न भागों से बहुत सारे विद्वानों ने बड़े ही श्रद्धा एवं स्नेह प्रदान कर श्री अमर भारती के उक्त विशेषांक के प्रकाशन में अमूल्य सहयोग प्रदान किया। उक्त प्रयास यह बताता है कि धर्म एवं अध्यात्म के प्रयास को आगे बढ़ाने में भले दमतोड़ मिहनत करनी पड़े, बड़े-बड़े अवरोधों को पार करना पड़े, किंतु जीवन और जगत् के शीर्ष पर वह आज भी सुशोभित होने का गौरव रखता है।

विशेषांक प्रकाशित हो गया। पश्चात् मेरे मन में यह भावना जगी कि क्यों न उक्त अंक में प्रकाशित स्थायी महत्त्व के निबंधों को पुस्तक रूप में प्रकाशित करके उनके स्थायित्व को अक्षुण्ण बना दिया जाए। इस सम्बन्ध में मैंने श्रद्धेय गुरुदेव से विचार-विमर्श किया। कहना न होगा, गुरुदेव, राष्ट्रसंत उपाध्याय अमर मुनिजी म. स्वयं जितने बड़े विद्वता के प्रकांड पुरुष हैं, उनके अंतर् में गुरु की गरिमा के साथ ही साथ पिता का अन्तःसलिलारूपी प्यार एवं माता की ममता हिलोरें ले रही है, इसे कोई श्रद्धालु एवं निष्ठावान व्यक्ति सम्पर्क में आकर ही जान सकता है। श्रमण संस्कृति के सम्बन्ध में लेखनी उठाने का जो मैं दुस्साहस करता हूँ, यह श्रद्धेय गुरुदेव का ही मेरे प्रति दिया गया आशीर्वाद है। मैं जो कुछ हूँ, गुरुदेव की स्नेहमयी संरचना हूँ, ऐसा कहने में मैं अपने मे एक महान् गौरव की अनुभूति करता हूँ।

तो, गुरुदेव की प्रेरणा से मैंने इस पुस्तक 'श्रमण संस्कृति : सिद्धान्त और साधना।' का संपादन किया। इसमें जिन-जिन विद्वत्-जनों की सामग्रियों का उपयोग किया है, मैं उनके प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। और आशा करता हूँ, जन-सामान्य से लेकर विद्वन्मण्डली तथा सरकारी स्तर पर इस पुस्तक का सम्मान होगा।

यदि यह पुस्तक एक भी व्यक्ति में धर्म एवं अध्यात्म की सच्ची जानकारी दे सकी, तो मैं अपना प्रयास सार्थक एवं सफल समझूँगा।

—संपादक

अनुक्रमणिका

★

१

श्रमण संस्कृति और उसकी प्राचीनता

भारत की अनेकविध संस्कृतियों में श्रमण संस्कृति एक प्रधान एवं गौरवपूर्ण संस्कृति है। समताप्रधान होने के कारण यह संस्कृति श्रमण संस्कृति कहलाती है। वह समता मुख्य रूप से तीन बातों में देखी जा सकती है। १. समाजविषयक, २. साध्य विषयक और ३. प्राणि जगत् के प्रति दृष्टि विषयक।

१. समाज विषयक समता का अर्थ है—समाज में किसी एक वर्ग का जन्मसिद्ध श्रेष्ठत्व और कनिष्ठत्व मानना। श्रमण संस्कृति समाज-रचना या धर्म विषयक अधिकार जन्मसिद्ध वर्ण और लिंग को न देकर गुणों को देती है। जन्म से किसी का महत्त्व नहीं होता है। महत्त्व होता है सद्गुणों का, पुरुषार्थ का। जन्म से कोई महान् नहीं होता और न हीन ही होता है। हीनता और श्रेष्ठता का सही आधार जीवनगत गुण-दोष ही हो सकते हैं।

२. साध्य विषयक समता का अर्थ है—अभ्युदय का एकसदृश-रूप। श्रमण संस्कृति का साध्य एक ऐसा आदर्श है जहाँ किसी भी प्रकार का स्वार्थ नहीं है—न ऐहिक और न पारलौकिक ही। वहाँ विषमता का नहीं, अपितु समता का साम्राज्य है। वह अवस्था तो योग्यता, अयोग्यता, अधिकता, न्यूनता, हीनता व श्रेष्ठता आदि से पूर्ण रूप से परे है।

३. प्राणिजगत् के प्रति दृष्टिविषयक समता का अर्थ है—संसार में जितने भी जीव हैं—चाहे मानव हो या पशु-पक्षी हो, कीट-पतंग हो या वनस्पति आदि हो, उन सभी को आत्मवत् समझना, उनका वध आत्मवध की तरह कष्टप्रद मानना। 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' की

भव्य भावना उसमें अठखेलियाँ करती हैं। श्रमण शब्द का मूल समण है। समण शब्द 'सम' शब्द से निष्पन्न है। जो सभी जीवों को अपने तुल्य मानता है, वह समण है। जिस प्रकार मुझे दुःख प्रिय नहीं है, उसी प्रकार सभी जीवों को दुःख प्रिय नहीं है। इस समता की भावना से जो स्वयं किसी प्राणी का वध नहीं करता और न दूसरों से करवाता है, वह अपनी सममति के कारण समण कहलाता है।

जिसके मन में समता की सुरसरिता प्रवाहित होती है, वह न किसी पर द्वेष करता है, और न किसी पर राग ही करता है, अपितु अपनी मनःस्थिति को सदा सम रखता है। इस कारण वह समण कहलाता है।

जिसके जीवन में सर्प के तन की तरह मृदुलता होती है, पर्वत की तरह जिसके जीवन में स्थैर्य होता है, अग्नि की तरह जिसका जीवन प्रज्वलित होता है, समुद्र की तरह जिसका जीवन गंभीर होता है, आकाश की तरह जिसका जीवन विराट् होता है, वृक्ष की तरह जिसका जीवन आश्रयदाता है, मधुकर की तरह जिसकी वृत्ति होती है, जो अनेक स्थान से मधु को वटोरता है, हरिण की तरह जो सरल होता है, भूमि की तरह जो क्षमाशील होता है, कमल की तरह जो निर्लेप होता है, सूर्य की तरह जिसका जीवन तेजस्वी होता है, और पवन की तरह जो अप्रतिहत विहारी होता है, वह समण है।

समण वह है जो पुरस्कार के पुष्पों को पाकर प्रसन्न नहीं होता और अपमान के हलाहल को पाकर खिन्न नहीं होता, अपितु सदा मान और अपमान में सम रहता है।

आगम साहित्य में अनेक स्थलों पर समण के साथ समता का सम्बन्ध जोड़ कर यह वताया गया है कि समता ही श्रमण संस्कृति का प्राण है।

उत्तराध्ययन में कहा है—सिर मुंड़ा लेने से कोई समण नहीं होता, वल्कि समता का आचरण करने से ही समण होता है।

सूत्र कृतांग में समण के समभाव की अनेक दृष्टियों से व्याख्या करते हुए लिखा है—मुनि को गोत्र-कुल आदि का मद न कर, दूसरों

के प्रति घृणा न रखते हुए सदा समभाव में रहना चाहिए। जो दूसरों का अपमान करता है, वह दीर्घ काल तक संसार में भ्रमण करता है। अतएव मुनि किसी प्रकार का मद न कर सम रहे। चक्रवर्ती भी दीक्षित होने पर अपने से पूर्व दीक्षित अनुचर के अनुचर को भी नमस्कार करने में संकोच न करे, बल्कि समता का आचरण करें। प्रज्ञासम्पन्न मुनि क्रोध आदि कषायों पर विजय प्राप्त कर समता धर्म का निरूपण करें।

जैन संस्कृति की साधना समता की साधना है। समता, समभाव, समदृष्टि ये सभी जैन संस्कृति के मूल तत्त्व हैं। जैन परम्परा में सामायिक की साधना को मुख्य स्थान दिया गया है। श्रमण हो या श्रावक हो, श्रमणी हो या श्राविका हो—सभी के लिए सामायिक की साधना आवश्यक मानी गई है।

समता के अनेक रूप हैं। आचार की समता अहिंसा है, विचारों की समता अनेकान्त है। समाज की समता अपरिग्रह है, और भाषा की समता स्याद्वाद है। जिस आचार और विचार में समता का अभाव है, वह आचार और विचार जैन संस्कृति को कभी मान्य नहीं रहा।

समता किसी भौतिक तत्त्व का नाम नहीं है, बल्कि मानव मन की कोमल वृत्ति ही समता तथा क्रूर वृत्ति ही विषमता है। प्रेम समता है, वैर विषमता है। समता मानव मन का अमृत है और विषमता विष है। समता जीवन है और विषमता मरण है। समता धर्म है और विषमता अधर्म है। समता एक दिव्य प्रकाश है और विषमता घोर अंधकार है। समता ही श्रमण संस्कृति के विचारों का निचोड़ है।

जैसे वेदांत दर्शन का केन्द्र विन्दु अद्वैतवाद और मायावाद है, सांख्य दर्शन का मूल प्रकृति और पुरुष का विवेकवाद है, बौद्ध दर्शन का चिन्तन विज्ञानवाद और शून्यवाद है, वैसे ही जैन संस्कृति का आधार अहिंसा और अनेकान्तवाद है। जैन संस्कृति के विधायकों ने अहिंसा पर गहराई से विवेचन किया है। उन्होंने अहिंसा की एकांगी और संकुचित व्याख्या न कर सर्वांगपूर्ण व्याख्या की है।

हिंसा का अर्थ केवल शारीरिक हिंसा ही नहीं है, प्रत्युत किसी को मन और वचन से पीड़ा पहुँचाना भी हिंसा है।

इस के अतिरिक्त जैनों में प्राणी की परिभाषा केवल मनुष्य और पशु तक ही सीमित नहीं है, अपितु उसकी परिधि एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक है। कीड़ी से लेकर कुंजर तक ही नहीं, बल्कि पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय के सम्बन्ध में भी गम्भीर विचार किया गया है।

अहिंसा के सम्बन्ध में प्रबलतम युक्ति यह है कि सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई भी नहीं चाहता, अतः किसी भी प्राणी का वध मत करो। जिस प्रकार हमें जीवन प्रिय है, मरण अप्रिय है; सुख प्रिय है, दुःख अप्रिय है; अनुकूलता प्रिय है, प्रतिकूलता अप्रिय हैं; मृदुता प्रिय है, कठोरता अप्रिय है; स्वतन्त्रता प्रिय है, परतंत्रता अप्रिय है, लाभ प्रिय है, अलाभ अप्रिय है; उसी प्रकार अन्य जीवों को भी जीवन आदि प्रिय हैं, और मरण आदि अप्रिय हैं। यह आत्मौपम्य दृष्टि ही अहिंसा का मूलाधार है। प्रत्येक आत्मा तात्त्विक दृष्टि से समान है, अतः मन, वचन और काय से किसी को सन्ताप न पहुँचाना ही पूर्ण अहिंसा है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो भेदज्ञानपूर्वक अभेद आचरण ही अहिंसा है।

जैन संस्कृति ने जीवन के प्रत्येक क्रिया-कलापों को अहिंसा की कसौटी पर कसा है। व्यक्ति, समाज और देश के सुख और शांति की आधार-शिला, अहिंसा, मैत्री और करुणा है। भगवान् महावीर ने अहिंसा को ही सब सुखों का मूल माना है। जो दूसरों को अभय देता है, वह स्वयं भी अभय हो जाता है। अभय की भव्य-भावना से ही अहिंसा, मैत्री और समता का जन्म होता है। जब दूसरे को पर माना जाता है, तब भय होता है। जब उन्हें आत्मवत् समझ लिया जाता है, तब भय कहाँ ? सब उसके हैं, और वह सब का है। अतएव अहिंसा का साधक सदा अभय होकर विचरण करता है। मैं विश्व का हूँ, और विश्व मेरा है—यह अहिंसा का अद्वैतात्मक दर्शन है। मेरा सुख सभी का सुख है, और सभी का दुःख मेरा दुःख है—यह अहिंसा का नीतिमार्ग है, व्यवहार पक्ष है।

विचारात्मक अहिंसा का ही अपर नाम अनेकान्त है। अनेकान्तवाद का अर्थ है—बौद्धिक अहिंसा। दूसरे के दृष्टिकोण को समझने की भावना एवं विचार को अनेकान्तवादो दर्शन कहते हैं। जब तक दूसरों के दृष्टिकोण के प्रति, विचारों के प्रति सहिष्णुता व आदर-भावना न होगी, तब तक अहिंसा की पूर्णता कथमपि संभव नहीं है। संघर्ष का मूल कारण आग्रह है। आग्रह में अपने विचारों के प्रति राग होने से वह उसे श्रेष्ठ समझता है, और दूसरों के विचारों के प्रति द्वेष होने से उसे कनिष्ठ समझता है। एकान्त दृष्टि में सदा आग्रह का निवास है। आग्रह से असहिष्णुता का जन्म होता है, और असहिष्णुता में से ही हिंसा और संघर्ष उत्पन्न होते हैं। अनेकान्त दृष्टि में आग्रह का अभाव होने से हिंसा और संघर्ष का भी अभाव होता है। विचारों की यह अहिंसा ही अनेकान्त दर्शन है। स्याद्वाद के भाषा प्रयोग में अपना दृष्टिकोण बताते हुए भी अन्य के दृष्टिकोणों के अस्तित्व की स्वीकृति रहती है। प्रत्येक पदार्थ अनन्त धर्म वाला है। तब एक धर्म का कथन करने वाली भाषा एकांश से सत्य हो सकती है, सर्वांश से नहीं। अपने दृष्टिकोण के अतिरिक्त अन्य के दृष्टिकोणों की स्वीकृति वह 'स्यात्' शब्द से देता है। 'स्यात्' का अर्थ है—वस्तु का वही रूप पूर्ण नहीं है, जो हम कह रहे हैं। वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। हम जो कह रहे हैं, उसके अतिरिक्त भी अनेक धर्म हैं। यह सूचना 'स्यात्' शब्द से की जाती है।

स्यात् शब्द का अर्थ—संभावना नहीं, अपेक्षा है। संभावना में सन्देहवाद को स्थान है, जबकि जैनदर्शन में सन्देहवाद को स्थान नहीं है, बल्कि एक निश्चित दृष्टिकोण है।

वाद का अर्थ है सिद्धान्त या मन्तव्य। दोनों शब्दों को मिलाकर अर्थ हुआ सापेक्ष सिद्धान्त अर्थात् वह सिद्धान्त जो किसी अपेक्षा को लेकर चलता है और विभिन्न विचारों का एकीकरण करता है। अनेकान्तवाद, अपेक्षावाद, कथंचिद्वाद और स्याद्वाद इन सबका एक ही अर्थ है।

स्याद्वाद की परिभाषा करते हुए कहा गया है—अपने या दूसरे के विचारों, मन्तव्यों, वचनों तथा कार्यों में तन्मूलक विभिन्न अपेक्षा या दृष्टिकोण का ध्यान रखना ही स्याद्वाद है।

आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—जैसे ग्वालिन मंथन करने की रस्सी के दो छोरों में से कभी एक को और कभी दूसरे को खींचती हैं। उसी प्रकार अनेकान्त पद्धति भी कभी एक धर्म को प्रमुखता देती है और कभी दूसरे धर्म को। इस प्रकार स्याद्वाद का अर्थ हुआ, विभिन्न दृष्टिकोणों का बिना किसी पक्षपात के तटस्थ बुद्धि से समन्वय करना। जो कार्य एक न्यायाधीश का होता है, वही कार्य विभिन्न विचारों के समन्वय के लिए स्याद्वाद का है। जैसे न्यायाधीश वादी और प्रतिवादी के बयानों को सुनकर जाँच-पड़ताल कर निष्पक्ष न्याय देता है, वैसे ही स्याद्वाद भी विभिन्न-विचारों में समन्वय करता है।

समता का भव्य भवन अनेकान्त और अहिंसा की भित्ति पर आधारित है। जब जीवन में अहिंसा और अनेकान्त का मूर्त रूप स्थापित हो जाता है, तब जीवन में समता का मधुर संगीत झंकृत होने लगता है। श्रमण संस्कृति का सार यही है कि जीवन में अधिकाधिक समता को अपनाया जाए और 'तामस' विषमभाव को छोड़ा जाए। 'तामस' समता का ही उलटा रूप है। समता श्रमण संस्कृति की साधना का प्राण है और आगम साहित्य का नवनीत है। भारत के उत्तर में जिस प्रकार चांदनी की तरह चमचमाता हुआ हिमगिरि का उत्तुंग शिखर शोभायमान है, वैसे ही श्रमण संस्कृति के चिन्तन-मनन के पीछे समत्व योग का दिव्य और भव्य शिखर चमक रहा है। श्रमण संस्कृति का यह गम्भीर आघोष रहा है—समता के अभाव में आध्यात्मिक उत्कर्ष नहीं हो सकता, और न जीवन में पूर्ण शान्ति ही प्राप्त हो सकती है, भले ही कोई साधक उग्र से उग्र तपश्चरण क्यों न कर ले। भले ही समस्त आगम साहित्य को कण्ठाग्र ही क्यों न कर ले। भले ही उसकी वाणी में द्वादशांगों का स्वर क्यों न मुखरित हो जाए। यदि उसके आचरण में, वाणी में, और मन में समता की सुरसरिता प्रवाहित नहीं हो रही है, तो उसका समस्त क्रियाकाण्ड और आगमों का परिज्ञान प्राणरहित कंकाल की तरह है। आत्मविकास की दृष्टि से उसका कुछ भी मूल्य नहीं है। आत्म-विकास की दृष्टि से जीवन के कण-कण में, मन के अणु-अणु में समता की ज्योति जगाना आवश्यक है। साम्यभाव को जीवन में साकार रूप देना ही श्रमण संस्कृति की आत्मा है।

श्रमण संस्कृति की प्राचीनता :

मोहन जोदड़ो और हड़प्पा के ध्वंसावशेषों ने पुरातत्त्व के क्षेत्र में एक नई हलचल पैदा कर दी है। जहाँ आजतक सभी प्रकार की प्राचीन सांस्कृतिक धारणाएँ आर्यों के परिकर में बंधी थी, वहाँ पर खुदाई से प्राप्त अवशेषों ने यह प्रमाणित कर दिया है कि आर्यों के तथाकथित भारत-आगमन के पूर्व भी यहाँ एक समृद्ध संस्कृति और सभ्यता थी। उस संस्कृति के मानने वाले मानव सुसभ्य, सुसंस्कृत और कालविद् ही नहीं, अपितु आत्मविद्या के भी प्रकाण्ड विद्वान् थे। पुरातत्त्वविदों के मतानुसार जो अवशेष मिले हैं, उनका सीधा सम्बन्ध श्रमण संस्कृति से है। आज यह सिद्ध हो चुका है कि आर्यों के आगमन के पूर्व ही श्रमण संस्कृति भारतवर्ष में अत्यन्त विकसित अवस्था में थी। पुरातत्त्व सामग्री से ही नहीं, अपितु ऋग्वेद आदि वैदिक साहित्य से भी इस सम्बन्ध में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती है।

व्रात्य :

अथर्ववेद में व्रात्य शब्द आया है। हमारी दृष्टि से यह शब्द श्रमण परम्परा से ही सम्बन्धित होना चाहिए।

व्रात्य शब्द अर्वाचीन काल में आचार और संस्कारों से हीन मानवों के लिए व्यवहृत होता रहा है। अभिधान चिन्तामणि कोश में आचार्य हेमचन्द्र ने भी यही अर्थ किया है। मनुस्मृतिकार ने लिखा है—जो क्षत्रिय, वैश्य और ब्राह्मण योग्य अवस्था प्राप्त करने पर भी असंस्कृत हैं, वे व्रात्य हैं और वे आर्यों के द्वारा गर्हणीय हैं। उन्होंने आगे लिखा है—जो ब्राह्मण संतति उपनयन आदि व्रतों से रहित हो, उस गुरु मंत्र से परिभ्रष्ट व्यक्ति को व्रात्य नाम से निर्दिष्ट किया गया है। ताण्ड्य महाब्राह्मण में एक व्रात्य स्तोत्र है, जिसका पाठ करने से अशुद्ध व्रात्य भी शुद्ध और सुसंस्कृत होकर यज्ञ आदि करने का अधिकारी हो जाता है। इस पर भाष्य करते हुए सायण ने भी व्रात्य का अर्थ आचारहीन किया है।

इन सभी अर्वाचीन उल्लेखों में व्रात्य का अर्थ आचारहीन बताया गया है, जबकि इन से पूर्ववर्ती जो ग्रन्थ हैं, उनमें यह अर्थ नहीं है। अपितु विद्वत्तम, महाधिकारी, पुण्यशील और विश्व-सम्मान्य आदि महत्त्वपूर्ण विशेषण व्रात्य के लिए व्यवहृत हुए हैं।

व्रात्यकाण्ड की भूमिका में आचार्य सायण ने लिखा है—इसमें व्रात्य की स्तुति की गई है। उपनयन आदि से हीन मानव व्रात्य कहलाता है। ऐसे मानव को वैदिक कृत्यों के लिए अनधिकारी और सामान्यतः पतित माना जाता है। परन्तु कोई व्रात्य ऐसा हो, जो विद्वान् और तपस्वी हो, वह सर्वपूज्य होगा और देवाधिदेव परमात्मा के तुल्य होगा। व्रात्य ने अपने पर्यटन में प्रजापति को भी प्रेरणा दी थी। और प्रजापति ने अपने में सुवर्ण आत्मा को देखा।

प्रश्न यह है कि वह व्रात्य कौन है, जिसने प्रजापति को प्रेरणा दी ? डाक्टर सम्पूर्णानन्द व्रात्य का अर्थ परमात्मा करते हैं। और बलदेव उपाध्याय भी उसी अर्थ को स्वीकार करते हैं।

व्रात्यकाण्ड में जो वर्णन है, उस पर से लगता है वह परमात्मा का नहीं, अपितु किसी देहधारी का वर्णन है। मेरे विचार से उस व्यक्ति का नाम भगवान् ऋषभदेव है। क्योंकि भगवान् ऋषभदेव एक वर्ष तक तपस्या में स्थिर रहे थे। एक वर्ष तक निराहार रहने पर भी उनके शरीर की पुष्टि और दीप्ति कम नहीं हुई थी।

व्रात्य शब्द का मूल व्रत है। व्रत का अर्थ धार्मिक संकल्प है, और जो संकल्पों में साधु है, कुशल है, वह व्रात्य है। डाक्टर हेवर प्रस्तुत शब्द का विश्लेषण करते हुए लिखते हैं—"व्रात्य का अर्थ व्रतों में दीक्षित है अर्थात् जिस ने आत्मानुशासन की दृष्टि से स्वेच्छापूर्वक व्रत स्वीकार किए हों, वह व्रात्य है।"

अहिंसा आदि की परम्परा ब्राह्मण संस्कृति से भी पूर्व जैन संस्कृति की देन है। वेद, ब्राह्मण और आरण्यक साहित्य में कहीं पर भी व्रतों का उल्लेख नहीं आया है। उपनिषदों, पुराणों और स्मृतियों में जो उल्लेख मिलता है, वह सारा भगवान् पार्श्वनाथ के पश्चात् का है। भगवान् पार्श्वनाथ की व्रत-परम्परा का उपनिषदों पर भी प्रभाव पड़ा है। और इन्होंने उसे स्वीकार कर लिया। यही तथ्य श्रीरामधारीसिंह 'दिनकर' ने निम्न शब्दों में बताया है—"हिन्दुत्व और जैन धर्म आपस में घुलमिल कर इतने एकाकार हो गये हैं कि आज का साधारण हिन्दू यह जानता भी नहीं कि अहिंसा, सत्य,

अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये जैनधर्म के उपदेश थे, हिन्दुत्व के नहीं।"

इस विवेचन का सार यह है कि प्राचीनकाल में व्रात्य शब्द का प्रयोग श्रमण संस्कृति के अनुयायी श्रमणों के लिए होता रहा है। अथर्ववेद के व्रात्य-काण्ड में रूपक की भाषा में भगवान् ऋषभदेव का जीवन उट्टङ्कित किया गया है। भगवान्-ऋषभदेव के प्रति वैदिक ऋषि प्रारम्भ से ही निष्ठावान् रहे हैं। और उन्हें वे देवाधिदेव के रूप में मानते रहे हैं।

वातरशनामुनि :

श्रीमद्भागवत पुराण में लिखा है कि स्वयं भगवान् विष्णु महाराजा नाभि का हित करने के लिए उनके रनवास में महारानी मरुदेवी के गर्भ में आये। उन्होंने वातरशना श्रमण ऋषियों के धर्म को प्रकट करने की इच्छा से यह अवतार ग्रहण किया।

ऋग्वेद में वातरशना मुनि का उल्लेख आया है। वे ऋचाएँ इस प्रकार हैं :—

> **"मुनयो वातऽरशनाः पिशंगा वसते मला**
> **वातस्यानुध्राजिम् यन्ति यद्देवासो अविक्षत।**
> **उन्मदिता मौनेयन वातांआ तस्थिमा वयम्**
> **शरीरेदेस्माकं यूयं मर्तासो अभिपश्यथ॥"**

अर्थात् अतीन्द्रियार्थदर्शी वातरशना मुनि मल धारण करते हैं, जिससे पिंगल वर्ण वाले दिखाई देते हैं। जब वे वायु की गति को प्राणोपासना द्वारा धारण कर लेते हैं, अर्थात् रोक देते हैं, तब वे अपनी तप की महिमा से दीप्तिमान होकर देवतास्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं। सार्वलौकिक व्यवहार को छोड़कर वे मौनेय की अनुभूति में कहते हैं—"मुनिभाव से प्रमुदित होकर हम वायुभाव में स्थित हो गये। मर्त्यो! तुम हमारा शरीर मात्र देखते हो।" रामायण की टीका में जिन वातवसन मुनियों का उल्लेख किया गया है, वे ऋग्वेद में वर्णित वातरशन मुनि ही ज्ञात होते हैं। उनके वर्णन उक्त वर्णन से मेल भी खाते हैं। केशी मुनि भी वातरशन की श्रेणी के ही थे।

तैत्तिरीयारण्यक में भगवान् ऋषभदेव के शिष्यों को वातरशन ऋषि और उर्ध्वमंथी कहा है।

वातरशना मुनि वैदिक परम्परा के नहीं थे, क्योंकि वैदिक परम्परा में संन्यास और मुनिपद को पहले स्थान नहीं था। श्रमण शब्द का उल्लेख तैत्तिरीयारण्यक और श्रीमद्भागवत के साथ ही वृहदारण्यक उपनिषद् और रामायण में भी मिलता है। इण्डो ग्रीक और इण्डोसीथियन के समय भी जैनधर्म श्रमण धर्म के नाम से प्रचलित था। मैगास्थनीज ने अपनी भारत यात्रा के समय दो प्रकार के मुख्य दार्शनिकों का उल्लेख किया है। १. श्रमण और २. ब्राह्मण। श्रमण और ब्राह्मण उस युग के मुख्य दार्शनिक थे। उस समय उन श्रमणों का वहुत आदर होता था। कार्ल ब्रुक ने जैन सम्प्रदाय पर विचार करते हुए मैगास्थनीज द्वारा उल्लिखित श्रमण सम्बन्धी अनुच्छेद को उद्धृत करते हुए लिखा है—"श्रमण वन में रहते थे। और लोग देवता की भाँति उनकी पूजा और स्तुति करते थे।"

केशी :

जम्बुद्वीप प्रज्ञप्ति के अनुसार भगवान् ऋषभदेव जव श्रमण वने, तो उन्होंने चार मुष्टि केशों का लोच किया था। सामान्य रूप से पाँच मुष्टि केशलोच करने की परम्परा है। भगवान् केशों का लोंच कर रहे थे। उस समय जव दोनों भागों के केशों का लोच करना अवशेष था, तभी देवलोक के इन्द्र शक्रेन्द्र ने भगवान् से निवेदन किया कि हे मुनिराज, इतनी सुन्दर केशराशि का लोच मत करो, उसे रहने दो। भगवान् ने इन्द्र की प्रार्थना से उसको उसी प्रकार रहने दिया। यही कारण है कि केश रखने के कारण उनका एक नाम केशी या केशरियाजी हुआ। जैसे सिंह अपने केशों के कारण केशरी कहलाता है, वैसे ही भगवान् ऋषभ केशी, केशरी और केशरिया नाम से विश्रुत हैं। ऋग्वेद में भगवान् ऋषभ की स्तुति केशी रूप में की गई है। वातरशना मुनि प्रकरण में इस प्रकार का उल्लेख आया है, जिससे स्पष्ट है कि केशी ऋषभदेव ही थे। अन्यत्र ऋग्वेद में केशी और वृषभ का एक साथ उल्लेख भी प्राप्त होता है। जव मुद्गल ऋषि की गायें (इन्द्रियाँ) चुराई जा रही थीं, तव उस समय केशी के सारथी ऋषभ देव के वचन से वे अपने स्थान पर लौट आयीं। अर्थात् ऋषभ

के उपदेश से वे इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी हो गयीं। ऋग्वेद में भगवान् ऋषभ का उल्लेख अनेक बार हुआ है।

अर्हन् :

जैन और वौद्ध साहित्य में सहस्रों वार अर्हन् शव्द का प्रयोग हुआ है। जो वीतराग और तीर्थंकर भगवान् होते हैं, वे अर्हन् की संज्ञा से पुकारे गये हैं। अर्हन् शव्द श्रमण संस्कृति का अत्यधिक प्रिय शव्द रहा है। अर्हन् के उपासक होने से जैन लोग आर्हत कहलाते हैं। आर्हत लोग प्रारम्भ से ही कर्म में विश्वास रखते हैं। यही कारण था कि वे ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता नहीं मानते थे। आर्हत मुख्य रूप से क्षत्रिय थे। राजनीति की भाँति वे धार्मिक प्रवृत्तियों में विशेष रुचि रखते थे। और वे वाद-विवादों में भी भाग लेते थे। इस आर्हत परम्परा की पुष्टि श्रीमद्भागवत, पद्म पुराण, विष्णुपुराण, स्कंदपुराण, शिवपुराण, मत्स्यपुराण और देवी भागवत आदि से भी होती है। इन में जैन धर्म की उत्पत्ति के सम्वन्ध में अनेक आख्यान उपलब्ध होते हैं। हनुमन्नाटक में "अर्हन्नित्यथ जैन शासनरता:" लिखा है। श्रमण नेता के लिए अर्हन् शव्द का प्रयोग ऋग्वेद में भी हुआ है।

विष्णु पुराण के अनुसार असुर लोग आर्हत धर्म के मानने वाले थे। उनको **माया मोह नामक** किसी व्यक्ति विशेष ने आर्हत धर्म में दीक्षित किया था। वे सामवेद, यजुर्वेद और ऋग्वेद में श्रद्धा नहीं रखते थे। अहिंसा धर्म में उनका पूर्ण विश्वास था।

वैदिक आर्यों के आगमन के पूर्व भारतवर्ष में सभ्य और असभ्य ये दोनों जातियाँ थीं। असुर, नाग और द्रविड़ ये नगरों में रहने के कारण सभ्य जातियाँ कहलाती थीं। और दास आदि जगलों में निवास करने के कारण असभ्य जातियाँ कहलाती थीं।

सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से असुर अत्यधिक उन्नत थे। वे आत्मविद्या के भी जानकार थे। शक्तिशाली होने के कारण वैदिक आर्यों को उनसे अत्यधिक क्षति उठानी पड़ी। वैदिक वाङ्मय में देव-दानवों का जो युद्ध वर्णन आया है, हमारी दृष्टि से यह युद्ध असुर और वैदिक आर्यों का युद्ध है। वैदिक आर्यों के आगमन के

साथ ही असुरों के साथ जो युद्ध छिड़ा, वह कुछ ही दिनों में समाप्त नहीं हो गया, अपितु वह संघर्ष ३०० वर्ष तक चलता रहा। आर्यों का इन्द्र पहले बहुत शक्तिसम्पन्न नहीं था। एतदर्थ प्रारम्भ में आर्य लोग पराजित होते रहे। महाभारत के अनुसार असुर राजाओं की एक लम्बी परम्परा रही है। और वे सभी राजागण—व्रतपरायण, बहुश्रुत लोकेश्वर थे। पद्मपुराण के अनुसार असुर लोग जैन धर्म स्वीकार करने के पश्चात् नर्मदा के तट पर निवास करने लगे।

ऊपर के संक्षिप्त विवरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि श्रमण संस्कृति भारतवर्ष की एक महान् संस्कृति है, जो प्रागैतिहासिक काल से ही भारत के विविध अंचलों में फलती और फूलती रही है। यह संस्कृति वैदिक संस्कृति की धारा नहीं है, अपितु एक स्वतंत्र संस्कृति है। इस संस्कृति की विचारधारा वैदिक संस्कृति की विचारधारा से पृथक् है। वैदिक संस्कृति प्रवृत्तिप्रधान है, और श्रमण संस्कृति निवृत्ति प्रधान। वैदिक संस्कृति विस्तारवादी है, और श्रमण संस्कृति सम, श्रम और सम प्रधान है। वैदिक संस्कृति का प्रतिनिधि ब्राह्मण है, और श्रमण संस्कृति का प्रतिनिधि श्रमण है। जो शान्ति, तपस्या व समत्वयोग की साधना करता है, वह श्रमण है। श्रमण संस्कृति ने आत्मा की शाश्वत मुक्ति पर बल दिया है।

दूसरी बात यह है कि जैन संस्कृति, बौद्ध संस्कृति की शाखा नहीं है, बल्कि स्पष्टतः बौद्ध संस्कृति जैन संस्कृति से मिलती-जुलती एक पृथक् संस्कृति है। हाँ, चूँकि यह भी समतावादी संस्कृति है, अतः यह निर्विवाद रूप से श्रमण संस्कृति की एक शाखा है। त्रिपिटक साहित्य का परिशीलन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि तथागत बुद्ध ने अनेक स्थलों पर श्रमण भगवान् महावीर को निग्गंथ नाथपुत्त आदि के नाम से सम्बोधित किया है। तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के आचार-विचार की छाप बुद्ध के जीवन पर और उनके धर्म पर स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। जैन संस्कृति की पारिभाषिक शब्दावली ही नहीं, कथा और कहानियाँ भी बौद्ध साहित्य में ज्यों की त्यों मिलती हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जैन संस्कृति, जिसे श्रमण संस्कृति कहा गया है, भारत की एक अति प्राचीन संस्कृति है।★

—श्रीदेवेन्द्र मुनि, शास्त्री, साहित्यरत्न

२

श्रमण संस्कृति का धरातल और उसकी परम्परा

भारतीय संस्कृति मूलतः दो संस्कृतियों का समन्वित रूप है—एक वैदिक संस्कृति और दूसरी श्रमण संस्कृति। वैदिक संस्कृति ब्रह्मन् की पृष्ठभूमि से उद्भूत हुई है, जबकि श्रमण संस्कृति सम शब्द के विविध रूपों अथवा अर्थों पर आधारित है। प्रथम में परतन्त्रता, ईश्वरावलम्बन और क्रियाकाण्ड की प्रवृत्ति देखी जाती है, जबकि द्वितीय स्वातन्त्र्य, स्वावलम्बन और आत्मा की सर्वोच्च शक्ति पर विश्वास करती है।

श्रमण शब्द श्रम धातु से निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है—उद्योग करना, परिश्रम करना। पालि-प्राकृत भाषा में इसी शब्द को समण कहा है, जो सम (शान्ति और समानता तथा स्वयं का श्रम) धातु से निर्मित है। अतः श्रमण संस्कृति उक्त श्रम, शम, और श्रम के मूल सिद्धान्तों के धरातल पर अवलम्बित है। इसमें तथाकथित ईश्वर मार्गद्रष्टा है, सृष्टि का कर्ता-धर्ता-हर्ता नहीं। अतः उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने श्रम व सत्कर्मों से स्वयं ईश्वर बन सकता है। वह ईश्वर के प्रसाद पर निर्भर नहीं है, बल्कि उसका स्वयं का पुरुषार्थ उसे चरम स्थिति तक पहुँचा देता है। उसकी मूल साधना है—आत्म-चिन्तन अथवा भेदविज्ञान। चाहे ब्राह्मण हो या क्षत्रिय, वैश्य हो या शूद्र—सभी को एक रूप से आत्मचिन्तन करने एवं मुक्ति प्राप्त करने का समान अधिकार है।[1] कोई भी व्यक्ति मात्र गोत्र अथवा धन से श्रेष्ठ

---

१. उत्तराध्ययन ; तथा

कम्मं विज्जा च धम्मो च सीलं जीवितमुत्तमं।
एतेन मच्चा सुज्झन्ति न गोत्तेन धनेन वा॥ —विसुद्धिमग्ग, १

नहीं होता, वल्कि उसकी श्रेष्ठता तो उसके उत्तम कर्म, विद्या, धर्म और शील से है। आत्मा अथवा चित्त स्वरूपतः निर्मल और निर्विकार है। हमारे कर्म उसके मूल स्वरूप को आवृत कर लेते हैं। आत्मा के इस विकार-भाव को दूर करने के लिए शुद्धभावपूर्वक अहिंसात्मक साधना अपेक्षित है। इस प्रकार समानता और अहिंसा श्रमण संस्कृति की मूलभूत विशेषताएँ हैं। यही उसका धरातल है।

श्रमण संस्कृति का उद्भव और उसकी प्राचीनता के सन्दर्भ में यहाँ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। परन्तु इतना निश्चित है कि श्रमण संस्कृति वैदिक संस्कृति से वाद की संस्कृति नहीं है। सिन्धु घाटी के उत्खनन में प्राप्त कुछ यौगिक मुद्राएँ, वैदिक साहित्य के व्रात्य, वातरशना, श्रमण और दिगम्वर मुनिगण, वेदों और पुराणों के ऋषभदेव तथा पालि साहित्य में प्राप्त लगभग चौबीसों जैन तीर्थंकरों के नामोल्लेख यह कहने को वाध्य करते हैं कि श्रमण संस्कृति वैदिक संस्कृति की अपेक्षा प्राचीनतर है। चूँकि वैदिक साहित्य के समकक्ष प्राचीन श्रमणसाहित्य उपलब्ध नहीं है, इसलिए भले ही हम उसे प्राचीनतर न मानें, पर समकालीन तो अवश्य ही मानना पड़ेगा।[२]

व्यक्ति अथवा समुदाय की विशेष रूप से तीन प्रकार की प्रवृत्तियाँ होती हैं, (१) भौतिकवादी प्रवृत्ति, (२) समानता और पुरुषार्थवादी प्रवृत्ति, तथा (३) किसी ईश्वर विशेष को सर्वसत्तावान् मानकर स्वयं को उसका दास मानने की प्रवृत्ति। प्रथम प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व चार्वाक्दर्शन करता है, द्वितीय का श्रमण दर्शन और तृतीय प्रवृत्ति का परिचय वैदिक दर्शन से मिलता है। अतएव ये दोनों संस्कृतियाँ, जो अपने आपमें स्वतन्त्र और मौलिक हैं, समकालीन थीं। क्षत्रिय विरोध आदि जैसे तर्क श्रमण संस्कृति के उद्भावक नहीं माने जा सकते। यह अधिक सम्भव है कि किसी कारणवश श्रमण संस्कृति का कुछ ह्रास हो गया हो और अपनी मूल स्थिति में पहुंचने के लिए वैदिक संस्कृति में समागत जातिवाद आदि जैसे कठोर, कटु और विपाक्त दोषों का आश्रय लेकर क्षत्रिय वर्ग उसके विरोध में उठ खड़ा हुआ हो।

---

२. देखिए, लेखक का प्रवन्ध—जैनिज्म इन बुद्धिस्ट लिटरेचर, प्रथम अध्याय

पालि साहित्य में श्रमणों के चार प्रकार बताये गये हैं—मग्ग-जिन, मग्गदेसिन, मग्गजीविन और मग्गदूसिन।[3] इनमें पारस्परिक मतभेद उत्पन्न होने के फलस्वरूप अनेक दार्शनिक सम्प्रदाय उठ खड़े हुए, जिन्हें बुद्ध ने 'दिट्ठि' की संज्ञा दी।[4] इन सभी विवादों का संकलन बासठ प्रकार की मिथ्यादृष्टियों (मिच्छादिट्ठि) में किया गया है। जैन साहित्य में इन्हीं दृष्टियों को विस्तार से ३६३ श्रेणियों में विभक्त कर समझाने का प्रयत्न किया गया है।[5] ठाणांग में श्रमणों के पाँच भेद निर्दिष्ट हैं निगण्ठ (जैन), सक्क (बौद्ध), तावस, गेरुय और परिव्राजक।[6] सुत्तनिपात में इनके तीन भेद मिलते हैं—तित्थिय, आजीविक और निगण्ठ। इन्हें वादसील कहा गया है।[7] वर्तमान में इन भेदों में जैन और बौद्ध—ये दो परम्पराएँ जीवित अवस्था में मिलती हैं।

भगवान् महावीर (पालि-निगण्ठ नातपुत्त) के समकालीन पूरणकस्सप, मक्खलिगोसाल, अजितकेसकम्बलि, पकुधकच्चायन, संजयबेलट्ठिपुत्त और महात्मा बुद्ध रहे हैं। त्रिपिटक में इन सभी आचार्यों को "सङ्घी चेव गणी च, गणाचारियो च, ञातो, यसस्सी, तित्थकरो साधुसम्मतो बहुजनस्स, रत्तञ्ञू, चिर पब्बजितो, अद्धगतो वयोनुपत्तो" कहा गया है। इनमें अधिकांश आचार्य श्रमण परम्परा से सम्बद्ध हैं।

श्रमण परम्परा और नहीं तो ऋषभदेव कालीन तो अवश्य है। उनके बाद शेष २३ तीर्थंकर और हुए, जिन्होंने इस परम्परा के विकास में अपना योगदान दिया था। इन तीर्थङ्करों में विशेष रूप से पार्श्वनाथ परम्परा के उल्लेख पालि त्रिपिटक में उपलब्ध होते हैं। वहाँ सामञ्ञफलसुत्त में पार्श्वनाथ के चातुर्यामसंवर का उल्लेख अवश्य है, पर वह यथावत् नहीं हो पाया। अंगुत्तरनिकाय (भा० ३,

३. सुत्तनिपात, ८२८
४. वही, ५४, १५१ आदि
५. सूयगडंग १, १, ११
६. ठाणांग पृ०–६५६
७. सुत्तनिपात, ३८१

पृ० २७६-७७) के उल्लेख से यह चातुर्यामसंवर बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है। ठाणाङ्ग (सूत्र २६६) आदि जैनागमों से भी इसका समर्थन स्पष्ट रूप से हो जाता है। अतः श्रमण-साधना में जैन-साधना, बौद्ध साधना से पूर्वतर सिद्ध हो जाती है।

भगवान् पार्श्वनाथ और महावीर के बीच लगभग २५० वर्ष का अन्तर था। इस बीच जैन संघ में आचार-शैथिल्य घर कर गया। महावीर ने इसके मूल कारण पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया और अपरिग्रह में मूलतः गर्भित ब्रह्मचर्य व्रत को पृथक् रूप देकर चातुर्याम के स्थान पर पञ्चयाम अथवा पञ्च महाव्रतों की स्थापना की। पालि त्रिपिटक और जैनागम इसके स्पष्ट प्रमाण हैं। जैन धर्म की तत्कालीन स्थिति का परिचय भी इन उद्धरणों से प्राप्त हो जाता है।

उक्त छः शास्ताओं के अतिरिक्त, कुछ छोटे-मोटे शास्ता और भी थे, जो अपने मतों का प्रवर्तन और प्रचार समाज में कर रहे थे। ब्रह्मजालसुत्त के बासठ दार्शनिक मत इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं। इन्हें भी गंभीर, दुर्बोध आदि कहा गया है। ये मत इस प्रकार हैं—

१. पुब्बन्तानुदिट्ठि अट्ठारसहि वत्थूहि

(i)	सस्सतवाद	— ४	१८
(ii)	एकच्चसस्सतवाद	— ४	
(iii)	अनन्तानन्तवाद	— ४	
(iv)	अमराविक्खेपवाद	— ४	
(v)	अधिच्चसमुप्पन्नवाद	— २	

२. अपरन्तानुदिट्ठि चतुचत्तारीसाय वत्थूहि

(i)	उद्धमाघातनिका सञ्ञीवादा	— १६	४४ + १८ = ६२
(ii)	उद्धमाघातनिका असञ्ञीवादा	— ८	
(iii)	उद्धमाघातनिका नेवसञ्ञी-नासञ्ञीवादा	— ८	
(iv)	उच्छेदवाद	— ७	
(v)	दिट्ठधम्मनिब्बानवाद	— ५	

सूत्र कृताङ्ग में दार्शनिक मत-मतान्तरों की संख्या ३६३ की गई है। इनके अतिरिक्त यज्ञ, भूत, प्रेत, पशु आदि की भी पूजा की जाती थी।

परिव्राजक भी एक पृथक् अथवा सामान्य सम्प्रदाय था। और भी अनेक सम्प्रदाय थे, पर वे उत्तरकाल में लुप्तप्राय हो चुके थे। ३६३ मत इस प्रकार हैं—

१. क्रियावाद—यह दर्शन जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप—ये नव पदार्थ मानता है। उसके अनुसार ये नव पदार्थ स्वतः और परतः के भेद से दो प्रकार के हैं। पुनः सभी पदार्थ नित्य और अनित्य होते हैं—९ × २=१८ × २ = ३६। ये ३६ पदार्थ काल, स्वभाव, नियति, ईश्वर और आत्मा के भेद से पाँच प्रकार के हैं—३६ × ५ = १८०। इस प्रकार क्रियावाद के कुल भेद १८० हुए।

२. अक्रियावाद इस दर्शन के अनुसार पुण्य और पाप का स्थान जीवन में कुछ भी नहीं। अतः इनके मत से कुल सात पदार्थ हुए। इनके दो भेद हैं—स्वतः और परतः। पुनः काल, यदृच्छा, नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा—ये ६ भेद हैं। इस प्रकार अक्रियावाद के कुल ७ × २ × ६ = ८४ भेद हुए।

"कालयदृच्छानियतिस्वभावेश्वरात्मनश्चतुरशीतिः।
नास्तिकवादिगणमते न सन्ति भावा स्वपरसंस्थाः।"[८]

३. अज्ञानवाद—इस दर्शन में उक्त नव पदार्थ स्वीकृत हैं। ये सभी पदार्थ सत्, असत्, सदसत् अवक्तव्य, सदवक्तव्य, असदवक्तव्य, सदसदवक्तव्य के भेद से सात प्रकार के हैं। इनके अतिरिक्त सती भावोत्पत्तिः को वेत्ति ? किं वाऽनया ज्ञातया ? २. असती भावोत्पत्तिः को वेत्ति ? किं वाऽनया ज्ञातया ? ३. सदसती भावोत्पत्तिः को वेत्ति ? किं वाऽनया ज्ञातया ? ४. अवक्तव्या भावोत्पत्तिः को वेत्तिः ? किं वाऽनया ज्ञातया ? ये चार भेद भी हैं। इस प्रकार ९ × ७ + ४ = ६७ भेद अज्ञानवाद के हैं।

"अज्ञानकवादिमतं नव जीवादीन् सदादिसप्तविधान्।
भावोत्पत्तिः सदसद्द्वेधाऽवाच्या च को वेत्ति॥"[९]

---

८. सूत्रकृतांग. १, १२, १५ वृ० पृ० २०६।२

९. वही, १, १२, १५ वृ० पृ० २०९

४. **वैनयिकवाद**—इस दर्शन में विनय से ही मुक्ति प्रदर्शित की है। यह विनय सुर, नृपति, यति, ज्ञाति, स्थविर, अधम, माता और पिता के प्रति मन, वचन, काय और दान के भेद से चार प्रकार की है। अतः वैनयिकवाद के ८×४ = ३२ भेद हुए।

"वैनयिकमतं विनयश्चेतोवाक्कायदानतः कार्यः।
सुरनृपतियतिज्ञातिस्थविराधममातृपितृषु सदा॥"[१०]

ब्रह्मजाल सुत्त में और सूत्रकृतांग में निर्दिष्ट ये दार्शनिक मत एक-दूसरे के पूरक कहे जा सकते हैं। आवश्यकता यह है कि उक्त प्रत्येक मत का सही विश्लेषण कर समीक्षात्मक मूल्यांकन किया जाए, ताकि यह ज्ञात हो सके कि उनमें कितने सम्प्रदाय श्रमण परम्परा से सम्बद्ध हैं। मुझे लगता है, उनमें अधिकांश सम्प्रदाय श्रमण संस्कृति के धरातल पर खड़े हुए हैं, और प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से किसी न किसी प्रकार श्रमण परम्परा से प्रभावित हैं।

—डा० भागचन्द जैन, भास्कर'

---

१०. वही, पृ० २१०।१ (पत्राकार)

३

श्रमण संस्कृति का विकास एवं विस्तार

उत्थानिका :

किसी भी देश की संस्कृति के दो रूप होते हैं। एक तो वह जो आन्तरिक जीवन को शुद्ध करने में पूर्ण योग देता है, और दूसरा वह रूप जो बाह्य साधनों द्वारा उसे आन्तरिक शुद्धता की ओर पहुँचाने में सहायता प्रदान करता है, जो प्राणी के जीवन का अन्तिम लक्ष्य है—अर्थात् आध्यात्म विकास। श्रमण संस्कृति ने इन दोनों रूपों के विकास में जो महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है, वह अतुलनीय है। इस संस्कृति की आत्मा अहिंसा और अपरिग्रहवाद है, जिसे स्याद्वाद द्वारा जीवन के विविध क्षेत्रों में व्यवहृत किया गया है। इसका मूल तत्त्व आत्मा है। इसमें आत्म-विकास, गुण-पूजा, परलोक, कर्मफल आदि बातों पर विशेष जोर दिया गया है। इसकी छत्रच्छाया में जिस साहित्य और कला का विकास शताब्दियों तक होता रहा, वह भी अवर्णनीय है। शिल्प, स्थापत्य कला में तो इस संस्कृति के ऐसे समुन्नत और व्यापक रूप का साक्षात्कार हुआ है, मानो अध्यात्म शान्ति का स्रोत ही उमड़ पड़ा हो।

श्रमण संस्कृति :

श्रमण, समन और शमन—ये तीनों शब्द प्राकृत के 'समण' से बने हैं। वास्तव में श्रमण संस्कृति का सारभूत तत्त्व इन्हीं तीनों शब्दों में निहित है।

(१) 'श्रमण' शब्द 'श्रम' धातु से बना है। इसका अर्थ है—श्रम करना। इसका अभिप्राय यह है कि व्यक्ति अपना विकास स्वयं अपने

ही परिश्रम से कर सकता है। सुख-दुःख तथा उत्थान-पतन के लिए वह स्वयं ही उत्तरदायी है। जो जैसा कर्म करता है, उसे उसका तदनुसार फल भोगना पड़ता है। कोई ईश्वर या अन्य बाह्य शक्ति इस कारण-कार्य नियम में हस्तक्षेप नहीं कर सकती।

(२) 'समन' इस शब्द का अर्थ है—समता अर्थात् सभी को आत्मवत् समझना। प्रवचनसार में समन की व्याख्या निम्न प्रकार की गई है—

"समसत्तु बन्धु वग्गो सम सुहदुक्खो पसंसणिदसमो।
समलोट्ठुकंचणो पुण जोविद मरणे समो समणो॥"

अर्थात् शत्रु और बन्धु, सुख और दुःख, प्रशंसा और निन्दा, मिट्टी और सोना तथा जीवन और मरण में समन सम बुद्धि होता है।

"जह मम न पियं दुक्ख जाणिय एमेव सव्व जोवाणं।
न हणइ न हणावाइ य समणमइ तेण सो समणो॥"

अर्थात् जिस प्रकार मुझे दुःख अच्छा नहीं लगता, उसी प्रकार सभी जीवों को समझना चाहिए। यह समझकर जो न स्वयं हिंसा करता है और न किसी अन्य से करवाता है; अर्थात् जो समस्त प्राणियों में समबुद्धि रखता है, वह समण है।

"सो समणो जइ सुमणो भावेण जइ ण होइ पावमणो।
सयणे अ जणे य समो समो अ माणावमाणेसु॥"

अर्थात् जिसका हृदय सदैव प्रफुल्लित रहता है, जो कभी भी पाप-चिन्ता नहीं करता। जो स्वजन और अन्य जन, तथा मान और अपमान में बुद्धि का संतुलन रखता है, वह समण है।

"इह लोगणिरावेक्खो अप्पडिबद्धो परम्मि लोयम्हि।
जुत्ताहारविहारो रहियकसाओ हवे समणो॥"

अर्थात् समण इहलौकिक विषय-तृष्णा से विरत और पारलौकिक विषयाकांक्षाओं से रहित होता है। उसका आहार-विहार संतुलित होता है। वह विषय-वासनाओं से मुक्त होता है।

(३) शमन—इस शब्द का अर्थ है—दमन करना अर्थात् मन, वचन और काय पर नियंत्रण रख कर दुर्वृत्तियों और तृष्णा का

उच्छेद करना तथा सद्वृत्तियों का विकास करना। इस शब्द में सभी प्रकार के पापों से विरक्ति का सदेश निहित है।

श्रमण संस्कृति का इतिवृत्त :

प्राचीन साहित्य के अनुसार भोगभूमि के पश्चात् कर्म-मूलक संस्कृति का उदय हुआ। इस संस्कृति की प्रतिष्ठा का श्रेय भगवान् ऋषभदेव को है। ये ऋषभ ही जैन धर्म अर्थात् श्रमण संस्कृति के प्रवर्त्तक थे। इन्होंने ही सर्वप्रथम असि (युद्ध विद्या) मसि (लेखन कला), कृषि(वाणिज्य,सेवा तथा शिल्प की) शिक्षा का प्रचलन किया। ब्राह्मी लिपि के आविष्कार का श्रेय भी इन्हीं को है। इन्होने धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था की ओर भी ध्यान दिया। क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—इन तीन वर्णों की स्थापना भी इन्होंने ही की। इन्हीं के पुत्र भरत के नाम पर इस देश का नाम भारत पड़ा। भरत ने ज्ञान और चरित्र को प्रधानता देने हेतु ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की। भागवत में भी ऋषभदेव का एक महान् तपस्वी एवं आराध्य के रूप में उल्लेख मिलता है।

ऋषभदेव के पश्चात् तीर्थंकरों ने श्रमण संस्कृति की धारा को आगे बढ़ाया। भगवान् नेमिनाथ इस संस्कृति के ऐसे प्रकाश स्तम्भ थे, जिन्होंने अहिंसामूलक संस्कृति के प्रकाश से जनमानस को आलोकित किया। भगवान् पार्श्वनाथ ने अपनी महान् सांस्कृतिक साधना के आधार पर इस बात पर विशेष बल दिया कि अहिंसा ही संस्कृति की आत्मा है। हिंसामूलक संस्कृति, संस्कृति नहीं, वरन् विकृति है। समन्वय की भावना ही संस्कृति का बल है, जीवन है और इसी में शताब्दियोंपर्यंत प्रवाहित रहने की अतुलनीय शक्ति है। भगवान् महावीर ने अहिंसा, अपरिग्रहवाद, कर्मवाद, स्याद्वाद तथा समतावाद की जिस पावन धारा को तुमुल वेग से प्रवाहित किया, उसमें निमज्जित होकर युग-युग तक मानव स्थायी सुख-शान्ति एवं अमरत्व को प्राप्त करता रहेगा।

भगवान् महावीर के पश्चात् आचार्य भद्रबाहु, कुन्दकुन्दाचार्य, स्थूलभद्राचार्य, उमास्वाति, समन्तभद्र, अकलंक देव, लोकाशाह, हीर विजय सूरि, आत्मानन्द, विजयवल्लभ सूरि आदि ने इस

संस्कृति का संरक्षण-सवर्द्धन एवं पोषण किया। इस समय मुनि विद्यानन्द, आचार्य तुलसी एवं राष्ट्रसंत उपाध्याय अमर मुनि जैसे महान् तपस्वीत्रय इस संस्कृति के प्रसार में अतुलनीय योगदान दे रहे हैं। बौद्ध भिक्षुओं ने भी इस संस्कृति के संदेश को राजमहलों से लेकर झोंपड़ियों तक पहुँचाया है।

छठी शताब्दी के प्रथम चरण तक तो श्रमण संस्कृति और जैन संस्कृति – दोनों एक ही समझी जाती थी, परन्तु भगवान् बुद्ध के कारण इसकी एक धारा बौद्ध धर्म के रूप में प्रवाहित हो चली और कालान्तर में जैन तथा बौद्ध—दोनों के लिए ही श्रमण संस्कृति शब्द व्यवहृत होने लगा। इसका प्रमुख कारण यह था कि भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध—दोनों समकालीन थे और दोनों की विचारधाराओं में बहुत अंशों में समानता थी। मुनि कान्तिसागर के शब्दों में—"दोनों ही परम्पराएँ वेदविरोधी थीं। मानव संस्कृति के विकास में अवरोधक वर्ण-व्यवस्था जैसी प्रथा इन दोनों को अभीष्ट न थी। वे गुणाश्रित उच्चत्व-निम्नत्व में विश्वास करते थे, जात्याश्रित में नहीं। बौद्ध और जैन श्रमणों ने जनता में अपने सांस्कृतिक तत्त्वों का प्रचार कर जातिवाद के विरुद्ध समाज का नवनिर्माण किया।"

मगधपति श्रेणिक बिम्बिसार और अभयकुमार ने बेबिलोन तक श्रमण संस्कृति का प्रभाव स्थापित किया। मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त तथा आचार्य भद्रबाहु ने दक्षिण भारत में श्रमण संस्कृति का प्रचार एवं प्रसार किया। अशोक ने लंका, तिब्बत, चीन, जापान, ब्रह्मा आदि देशों में बौद्ध-धर्म के प्रचारार्थ अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया। उसने बौद्ध-धर्म की एक महती सभा का आयोजन किया, जिसमें अनेकों विद्वानों ने भाग लिया। इतना ही नहीं, अशोक ने बौद्ध-धर्म के सिद्धान्तों को शिला स्तम्भों पर अंकित कराया। सम्राट् सम्प्रति ने विदेशों तक में जैनधर्म का प्रचार कराया और अनेकों जैन मंदिर तथा मूर्तियों का निर्माण कराया। मिश्र में पाई जाने वाली सिमानिया जाति उस युग में लोकप्रचलित श्रमण संस्कृति का आज भी स्मरण दिलाती है।

शुंगकाल में वैदिक संस्कृति के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण श्रमण संस्कृति का विकास कुछ मन्द हो गया। परन्तु कनिष्क और हर्ष

जैसे प्रतापी सम्राटों ने बौद्ध धर्म का प्रवल प्रचार किया। इसी प्रकार अमोघवर्ष, कुमारपाल तथा अन्य अनेक राजपूत राजाओं के संरक्षण में जैन धर्म ने भी पर्याप्त उन्नति की। सम्पूर्ण भारत में निर्मित जैन मन्दिर तथा उत्खनन कार्य में उपलब्ध जैन और बुद्ध मूर्तियाँ इस बात की प्रतीक हैं कि एक समय ऐसा था जबकि सम्पूर्ण देश में श्रमण संस्कृति का ही बोलबाला था। मथुरा, उदयगिरि, खण्डगिरि, सारनाथ, पटना, वैशाली, प्रयाग आदि स्थानों से उपलब्ध मूर्तियाँ, चौकोर आयाग पट्ट, वेदिका, तोरण, स्तम्भ, द्वारस्तम्भ, गुफाएँ तथा अजन्ता, बाघ, बादामी, एलोरा आदि की चित्रकला एवम् भगवान् गोमटेश्वर, अभयमुद्रा में भगवान् बुद्ध की मूर्ति, सारनाथ, लौरिया एवं वैशाली के अशोक स्तम्भ, शत्रुंजय तथा आबू के जैन मदिर, स्तूप आदि समस्त बातें श्रमण-संस्कृति की स्वर्णिम गौरवगाथा का गान कर रही हैं।

श्रमण-संस्कृति का क्रमबद्ध इतिहास ही लोक-जीवन का ज्वलंत इतिहास है। समय-समय पर त्यागी श्रमण अपने त्याग, संयम और समत्व की प्रबल भावना के द्वारा राजमहलों से लगाकर झोपड़ियों तक व्यक्तिमूलक स्वतन्त्रता का सन्देश सुनाते रहे। जहाँ समता का निवास है, वहाँ विश्वप्रेम स्वतः ही उत्पन्न हो जाता है। भगवान् बुद्ध अपने शिष्यों से कहते हैं—

"चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय, लोकानुकम्पाय, अत्थाय हिताय देवमनुस्सानं।"

हे भिक्षुओ! ऐसी जीवन-चर्या अपनाओ जिससे बहुत लोगों का हित हो, बहुत लोगों को सुख प्राप्त हो। लोक की अनुकम्पा के लिए देव और मनुष्यों के उपकार तथा हित को अपना जीवनवृत्त बनाओ।

"देसेथ भिक्खवे कल्लाणं, आदिकल्लाणं, मज्झे कल्लाणं, परियोसान कल्लाणं, केवलं परिपुण्णं, ब्रह्मचर्यं पकासेथ।"

हे भिक्षुओ! ऐसा उपदेश दो जो आदि में कल्याणकारी हो, मध्य में कल्याणकारी हो और अन्त में कल्याणकारी हो। पूर्ण ब्रह्मचर्य का प्रकाश फैलाओ।

इतना ही नहीं, भगवान् बुद्ध संसार को मैत्री और करुणा से भर देना चाहते थे। उन्होंने कहा है—

"माया जहा नियं पुत्तं एकमत्ताणु रक्खे । भावयं अपरिमाणं ।"

अर्थात् जिस प्रकार माता अपने इकलौते पुत्र को स्नेह करती है, उसी प्रकार तुम अपने स्नेह को संसार के समस्त प्राणियों में फैला दो।

श्रमण संस्कृति की उदारता :

भारत की सांस्कृतिक शाखाओं में श्रमण संस्कृति ही केवल ऐसी है, जो केवल विचार में ही उदार नहीं, अपितु आचार में भी काफी उदात्त एवं दृढ़ रही है। श्रमण परम्परा में चाण्डालों को भी संघ में वही स्थान प्राप्त था जो राजकुमारों को था। किसी भी संस्कृति की उदारता का परिचय उसके साहित्य की अपेक्षा आचार से अधिक मिलता है। श्रमण संस्कृति में व्यक्ति की अपेक्षा गुणों को प्रधानता दी गई है। जैनियों के दैनिक मंत्र णमो लोए सव्व साहूणं"—संसार के समस्त साधुओं को नमस्कार हो—से ज्ञात होता है कि इस मंत्र के प्रणेताओं का हृदय कितना विशाल और मध्यस्थ भावों से ओत-प्रोत था।

श्रमण संस्कृति ज्ञान की अपेक्षा चारित्रिक निर्माण पर अधिक वल देती है। क्योंकि मानव संस्कृति का विकास चारित्रिक वल पर ही अवलम्बित है। गीता का 'आत्मवत् सवभूतेषु य पश्यति स पश्यति'–यह स्वर्ण वाक्य श्रमण संस्कृति में सर्वांशतः साकार हुआ है।

यह संस्कृति प्राणियों में जन्मकृत कोई अन्तर नहीं मानती। आत्मविकास के पथ में जो प्राणी जितना आगे है, वह उतना ही उच्च है, फिर चाहे वह शूद्र हो या ब्राह्मण, राजा हो या रंक, स्त्री हो या पुरुष। यहाँ प्राणियों का सुख-दुःख किसी के वरदान अथवा अभिशाप पर निर्भर नहीं है। इसलिए न तो किसी को प्रसन्न करने के लिए सावना की आवश्यकता है, और न किसी के प्रकोप को दूर करने के लिए अनुष्ठान की। सुख और दुःख का कर्त्ता तथा विकर्त्ता स्वयं आत्मा ही है। आत्मा ही मित्र है, आत्मा ही शत्रु है। आत्मा वैतरणी नदी है, आत्मा कूट शाल्मली वृक्ष है। आत्मा ही कामधेनु है और आत्मा ही नन्दन वन है।

"अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू अप्पा मे नंदणं वणं ।।"

—उत्तराध्ययन सूत्र

उपर्युक्त वर्णन से यह निष्कर्ष निकलता है कि श्रमण संस्कृति भारत की प्राचीन तथा लोक मंगलकारी संस्कृति है। अतः भारतीय संस्कृति के विकास एवं विस्तार में श्रमण संस्कृति का अपूर्व योगदान रहा है।

डा० पुष्यमित्र जैन,
एम०ए०, पी-एच०डी०

४

श्रमण संस्कृति की दार्शनिक पृष्ठभूमि

धर्म, संस्कृति और दर्शन—ये तीनों मानव-जीवन के विकास की सीमारेखाएँ हैं। इन तीनों को विभक्त नहीं किया जा सकता। तीनों का समन्वित रूप ही मानव-जीवन के लिए वरदान सिद्ध हो सकता है। संस्कृति जब आचारोन्मुख होती है, तब उसे धर्म कहा जाता है, और जब वह विचारोन्मुख होती है, तब उसे दर्शन कहा जाता है। संस्कृति का वाह्यरूप एवं क्रिया-काण्ड धर्म है, और संस्कृति की आन्तरिक रेखा अथवा चिन्तन दर्शन की संज्ञा को प्राप्त करता है। संस्कृति का अर्थ है—संस्कार। संस्कार चेतन का ही हो सकता है, जड़ का नहीं। इस संदर्भ में संस्कृति का सम्बन्ध चेतन से ही है, अचेतन से नहीं। जब प्रकृति में विकार आ जाता है, तब उसके सुधार के लिए जो प्रयत्न किया जाता है, वही संस्कार अथवा संस्कृति है।

श्रमण-संस्कृति :

संस्कृति अपने आप में एक अखण्ड तत्त्व है। उसका खण्ड अथवा विभाजन नहीं किया जा सकता। संस्कृति के पूर्व जब कोई विशेषण जोड़ दिया जाता है, तब वह विभाजित हो जाती है। संस्कृति अपने आप में एक होकर भी अपने पूर्व विशेषणों के कारण अनेक विभागों में विभाजित हो जाती है। जैसे कि—श्रमण-संस्कृति और व्राह्मण-संस्कृति। सम-संस्कृति अथवा व्रह्म-संस्कृति। श्रमण और व्राह्मण—ये दोनों भारतीय धर्म-परम्पराओं में गुरु पद भोगते रहे हैं। एक ही राष्ट्र में रहते हुए भी और एक ही राष्ट्र का अन्न एवं जल खाते-पीते हुए भी दोनों के चिन्तन की पद्धति अलग-अलग रही है। श्रमण ने योग को अपनाया, तो व्राह्मण ने भोग को।

ब्राह्मण का लक्ष्य रहा—भोग, सुख एवं सुविधा, और श्रमण का लक्ष्य रहा—त्याग, वैराग्य और विरक्ति। ब्राह्मण के जीवन का लक्ष्य था—संसार में रहकर अधिक से अधिक सुख का उपभोग करना, जबकि श्रमण ने सुख के उपभोगों से विरक्त होकर, आध्यात्मिक सुख और आध्यात्मिक कल्याण को प्राप्त करने का अपना लक्ष्य बनाया। ब्राह्मणवादी चिन्तन के सुख की अन्तिम सीमा स्वर्ग रहा, और श्रमण ने अपने सुख की अन्तिम सीमा को मोक्ष कहा। वास्तव में ब्राह्मण-संस्कृति समाज और राष्ट्र की संस्कृति रही, जबकि श्रमण-संस्कृति व्यक्ति की और अध्यात्मभाव की संस्कृति रही है। संस्कृति के स्वरूप में इतनी अन्तर रेखा के कारण ही संस्कृति दो भागों में विभाजित हो गई।

ब्राह्मण संस्कृति के विकास ने मीमांसादर्शन, वेदान्त-दर्शन, वैशेषिक-दर्शन और न्यायदर्शन को जन्म दिया। श्रमण-संस्कृति ने जैन-दर्शन, बौद्ध-दर्शन, सांख्य-दर्शन, योग-दर्शन और आजीवक-दर्शन को जन्म दिया। ब्राह्मण-संस्कृति का मूल लक्ष्य कर्म-योग पर अधिक रहा और श्रमण-संस्कृति का ज्ञान-योग अथवा संन्यासयोग पर अधिक लक्ष्य रहा है। यद्यपि श्रमण-संस्कृति, श्रमण-धर्म अथवा श्रमण-दर्शन के नाम से जैन-परंपरा और बौद्ध-परम्परा का ही परिज्ञान होता है, तथापि उसके मूल चिन्तन का अवगाहन किया जाए, तो ज्ञात होगा कि संन्यास-धर्म को मुख्य मानने वाली जितनी भी धाराएँ एवं उपधाराएँ हैं, वे सभी संस्कृतियाँ श्रमण-संस्कृति में अन्तर्गर्भित हो जाती हैं। महावीर के अनुयायी और बुद्ध के अनुयायी इस तथ्य को समवेत स्वर में स्वीकृत करते हैं कि गृहस्थ-जीवन की अपेक्षा श्रमण-जीवन श्रेष्ठ एवं ज्येष्ठ है। श्रमण के विचार और आचार का अनुगमन करने वाली परम्परा श्रमण-संस्कृति कही जाती रही है।

सांख्य और योग :

कपिल के सांख्य-सूत्र और पतंजलि के योग-सूत्र संन्यास को जीवन कल्याण के लिए मुख्य धर्म स्वीकार करते हैं। भले ही कपिल ने अपने उच्चतम साधकों के लिए श्रमण शब्द का प्रयोग न किया हो, परन्तु परिव्राजक और संन्यासी तथा योगी शब्द का वही अर्थ है,

जो श्रमण शब्द का है। सांख्य-दर्शन का संन्यासी, योग-दर्शन का योगी और श्रमण-संस्कृति का श्रमण—तीनो का उद्देश्य एक ही है, कि अध्यात्म-जीवन का विकास करके अनन्त सुख, अनन्त शान्ति और अनन्त आनन्द को प्राप्त किया जाए। इस दृष्टि से सांख्य-दर्शन और योग-दर्शन भी श्रमण-दर्शन से भिन्न नहीं है। कुछ शब्दों के हेर-फेर के कारण, अथवा कुछ परिभाषाओं की भिन्नता के कारण, सांख्य और योग को श्रमण-धर्म, श्रमण-संस्कृति और श्रमण-दर्शन से अलग नहीं रखा जा सकता। इसी प्रकार आजीवक-पंथ भी श्रमण-परम्परा का एक अंग था। भले ही आज उसकी परम्पराएँ विलुप्त अथवा विस्मृत हो चुकी हों। इस प्रकार श्रमण-संस्कृति की सीमा बहुत विस्तृत एवं व्यापक रही है।

दर्शन की परिभाषा :

दर्शन शब्द अत्यन्त व्यापक रहा है। इसकी व्याख्या और परिभाषा को बाँधने का जितना प्रयत्न किया गया है, वह उतना ही विराट् और व्यापक होता रहा है। दर्शन-शास्त्र की विभिन्न शाखाओं में आस्था की भिन्नता होने पर भी उसके मूलस्वरूप के सम्बन्ध में किसी प्रकार की भिन्नता नहीं देखी जाती। दर्शन शब्द की परिभाषा अथवा लक्षण एक ही हैं कि सत्य एवं तथ्य का साक्षात्कार करना। जिसने सत्य का साक्षात्कार कर लिया, उसे प्राचीन युग में ऋषि तथा वर्तमान युग में दार्शनिक कहा जाता है। दर्शन और दार्शनिक की यह परिभाषा भारत के सभी दर्शन सम्प्रदायों को मान्य रही है। तत्त्व का साक्षात्कार करना ही, सत्य का साक्षात्कार करना माना जाता है। इस अर्थ में उच्छेदवादी चार्वाक-दर्शन को भी दर्शन कहा गया है। भारत के नव दर्शनों में उसकी भी परिगणना की गई है। यह बात अलग है कि तत्त्व, सत्य और तथ्य किसे कहा जाए? जैन-परम्परा जीव और अजीव को तत्त्व स्वीकार करती है। सांख्य-दर्शन ने प्रकृति और पुरुष को तत्त्व कहा है। बौद्ध-परम्परा में चार आर्य सत्य प्रसिद्ध हैं। वैशेषिक-दर्शन ने सप्त पदार्थ स्वीकार किए हैं, तो न्याय-दर्शन ने सोलह पदार्थ माने हैं। वेदान्त ने इन सब को मिटाकर एक मात्र ब्रह्म को ही तत्त्व माना है। तत्त्व की व्याख्या भिन्न होने पर भी तत्त्व की

सत्ता से किसी को इन्कार नहीं है। तत्त्व के प्रति जो अडिग एवं अटूट आस्था है, वस्तुतः वही धर्म एवं संस्कृति है। आस्था के रूप विभिन्न होने पर भी समग्र भारतीय-दर्शनों की आस्था का आधार एक ही रहा है, और वह है—तत्त्व, सत्य एवं तथ्य। भारतीय-दार्शनिकों ने दर्शन को, जीवन का अभिन्न अंग माना है। उनकी मान्यता के अनुसार जीवन कभी दर्शन से शून्य नहीं हो सकता। दर्शन ही जीवन है।

जीवन और दर्शन

जीवन में दर्शन अथवा चिन्तन उतना ही आवश्यक है, जितना भौतिक जीवन को टिकाने के लिए श्वास और प्रश्वास। प्रत्येक व्यक्ति, फिर भले ही वह कितना ही अपढ़ एवं गँवार हो, किन्तु अपने आप में वह अवश्य ही दार्शनिक होता है। जब मानवीय मन के स्तर पर जीवन और जगत् के प्रश्न उभर कर आते हैं, अथवा जब वह आत्मा और परमात्मा की बात करता है, तब क्या वह अनायास ही दर्शन को अभिव्यक्ति नहीं देता ? इस अर्थ में मैं दर्शन को जीवन का एक अभिन्न अंग स्वीकार करता हूँ। पाश्चात्य दार्शनिक बेकन ने कहा था—"दर्शन में हमें सबसे पहले मस्तिष्क की शक्ति को ढूँढ़ने के लिए कहा जाता है। बाकी चीजें या तो एकत्रित कर दी जाएँगी या उनकी कोई जरूरत ही नहीं रहेगी।" फ्रान्स के महान् दार्शनिक डेकार्ट ने कहा था—"मनुष्य जितना जान सकता है, वह ज्ञान तथा अपने जीवन के आचरण, अपने स्वास्थ्य की रक्षा, और सभी कलाओं के आविष्कार का पूर्ण ज्ञान दर्शन है।" लारबनित्ज ने कहा था—'दर्शन का मुख्य काम ज्ञान के मौलिक सिद्धान्तों का आविष्कार करना है।" थ्यूरो के शब्दों में—"केवल गम्भीर एवं उच्च विचारों का पोषण अथवा किसी बोझिल विचारधारा से संबद्ध होना ही दार्शनिकता नहीं है, बल्कि दार्शनिकता का अर्थ है—ज्ञान अथवा विद्या प्रेम। और उसी ज्ञान तथा विवेक के साथ जीवनयापन। सादगी, स्वच्छता एवं आस्थामय जीवन बिताना ही सच्ची दार्शनिकता है।" जर्मनी के महान् दार्शनिक हेगल ने कहा था—"दर्शन का काम है—प्रकृति और अनुभव के द्वारा सारा जगत् जैसा है, उसे वैसा ही जानना।

उसके भीतर का अध्ययन करना और उसे समझना। केवल बाहरी संयोग से उत्पन्न रूप को ही नहीं, बल्कि प्रकृति के भीतर जो अनादि समन्वय व्यवस्था है, उसका भी अध्ययन करना। अतः दर्शन का लक्ष्य यह दिखाना है, कि कैसे एक परिणाम दूसरे परिणाम को जन्म देता है। और कैसे उसका दूसरे से प्रकट होना अवश्यंभावी है।" वर्गील ने कहा था—"वही मनुष्य सुखी है, जो वस्तुओं का कारण जान चुका है, और जिससे सारे भय, निर्दयी भाग्य और तृष्णा के नरक के हलचलपूर्ण संघर्षों को अपने पैरों के नीचे दबा चुका है।" वर्गील ने दर्शन की परिभाषा करते हुए कहा था—"दर्शन सदैव वास्तविक प्रत्यक्ष दर्शन एवं आत्मानुभूति रहा है, और रहेगा।" सापेन हॉवर ने दर्शन के सम्बन्ध में अपनी व्याख्या इस प्रकार प्रस्तुत की थी "उसी व्यक्ति में दर्शन की क्षमता नहीं होती, जो मनुष्य तथा सभी वस्तुओं को यथार्थ रूप में जानने का प्रयत्न नहीं करता।" एक मात्र दर्शन ही ऐसा है, जो कष्ट तथा दुःखों से भरे जीवन में शान्ति दे सकता है। इन परिभाषाओं के अनुसार दर्शन का जीवन से निकटतम सम्वन्ध रहा है।

अध्यात्मवादी दर्शन :

श्रमण-संस्कृति का दर्शन एक आध्यात्मवादी दर्शन है। मानव को भोग से योग की ओर ले जाना ही उसका लक्ष्य रहा है। यही कारण है कि श्रमण-परम्परा के दर्शन की साधना अध्यात्म-भाव की साधना है, मानव-मन के विकार और विकल्पों पर विजय पाने की साधना है। मनोगत विकारों को पराजित कर आत्म-विजय की प्रतिष्ठा करना ही उसका जय-घोष रहा है। आत्मा के एक अशुद्ध-भाव को जीत लेने पर चार क्रोधादि कषाय और मन जीत लिया जाता है, और पाँच को जीत लेने पर दश—मन, कषाय और पाँच इन्द्रियाँ जीत ली जाती हैं।[१] इस प्रकार दश शत्रुओं को जीत कर जीवन के समस्त शत्रुओं को सदा के लिए जीत लिया जाता है। मनोविकारों को जीतना ही सच्ची विजय है। जिसने अपने आपको नहीं जीता, वह समस्त जगत् को जीतकर भी विजेता नहीं कहा जा सकता। श्रमण-दर्शन का यह केन्द्रीय विचार रहा है।

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र, २३, ३६

जैन शब्द जिन शब्द पर से बना है, जो जिन का उपासक है, वह जैन है। राग एवं द्वेष आदि विकारों को सर्वथा जीत लेना ही जिनत्व है। जो राग-द्वेष रूपी विकारों को जीतने के लिए प्रयत्न-शील है, कुछ को जीत चुका है, और कुछ को जीत रहा है, वस्तुतः वही जैन है। निजत्व की परिधि से निकल कर जिनत्व की ओर अग्रसर होने वाला साधक, आत्म-साधक कहा जाता है। इसका अभिप्राय यही है कि निजत्व में जिनत्व की प्रतिष्ठा करना ही जैनत्व है। जब तक साधक अपने स्वरूप को न समझे और अपने को जीतने का प्रयत्न न करे तब तक उसकी साधना विपरीत दिशा की साधना कही जाती है।

जैन-दर्शन :

भारतीय-दर्शनों में जैन-दर्शन की अमूल्य देन अनेकान्तवाद है। जैसे—वेदान्त-दर्शन का चरम विकास ब्रह्मवाद हुआ है, सांख्य-दर्शन का चरम विकास परिणामवाद में हुआ है, और जिस प्रकार बौद्ध-दर्शन का चरम विकास विज्ञानवाद एवं शून्यवाद में हुआ है, वैसे ही जैन-दर्शन का चरम विकास अथवा चरम परिणति अनेकान्तवाद एवं स्याद्वाद रहा है। अनेकान्तवाद का आधार नयवाद है, और स्याद्वाद का आधार सप्तभंगीवाद। अनेकान्त एक दृष्टि है, और उस अनेकान्तमयी दृष्टि को जिस भाषा-पद्धति के द्वारा अभिव्यक्ति मिलती है, उसे स्याद्वाद कहा जाता है। भारतीय-दर्शनों में अने-कान्तवाद जैन-दर्शन की एक अपूर्व देन है। इसके द्वारा सभी दार्शनिक संघर्ष समाप्त किये जा सकते हैं। अनेकान्त का आधार केवल दार्शनिक ही नहीं, अपितु अनेकान्त के द्वारा सामाजिक, पारि-वारिक, राजनीतिक और राष्ट्रीय संघर्षों को भी मिटाया जा सकता है। जैन-दर्शन वस्तु को एक रूपात्मक या एक धर्मात्मक नहीं मानता, बल्कि अनन्त धर्मात्मक मानता है। किसी एक अपेक्षा से वस्तु के एक रूप को ही जाना जा सकता है, समग्र रूप को नहीं। जैसे—आम्रफल में रूप, रस, गंध एवं स्पर्श आदि सभी धर्म विद्यमान हैं, परन्तु हम चर्मचक्षु के द्वारा उसके रूप एवं आकार का ही ज्ञान कर सकते हैं, उसके अन्य धर्मों का नहीं। यह सत्य है कि रूप भी आम्रफल का एक धर्म है। परन्तु रूपमात्र को ही समग्र आम्रफल नहीं कहा जा

सकता। उसमें स्थित अन्य धर्म भी, जिन्हें अन्य इन्द्रियों के द्वारा जाना जा सकता है, उन सबका समवेत रूप ही आम्रफल है। अतः आम्रफल का समग्र रूप सभी धर्मों के समन्वय से बन सकता है। इसी प्रकार आत्मा भी अनन्त धर्मात्मक एक द्रव्य है, उसमें नित्यत्व और अनित्यत्व, एकत्व और अनेकत्व, भिन्नत्व और अभिन्नत्व, तथा सत् और असत् आदि अनन्त धर्म हैं। उन अनन्त धर्मों का समवेत पिण्ड ही आत्मा है। आत्मा को समझने के लिए उन सभी धर्मों का समझना परम आवश्यक है। दार्शनिक क्षेत्र में यह अनेकान्तवाद जैन-दर्शन का एक प्रसिद्ध सिद्धान्त है। समग्र जैन-दर्शन की आधारशिला इसी पर आधारित है।

अहिंसा और अपरिग्रह भी जैन-दर्शन के मूलभूत सिद्धान्त रहे हैं। वास्तव में अहिंसा और अनेकान्त—इन दो शब्दों में समग्र श्रमण-परम्परा का सार आ जाता है। अनेकान्त को भली भाँति समझे बिना और व्यवहार में लाए बिना अहिंसा नितांत अधूरी और लँगड़ी रहती है। अहिंसा के दो रूप हैं—विचार की अहिंसा और आचार की अहिंसा। प्रथम विचारों का क्षेत्र स्पष्ट और स्वच्छ होना चाहिए तभी आचार-विशुद्धि हो सकेगी। विचारों में तो कूड़ा-करकट भरा हो, और जीवन-व्यवहार में निस्तेज अहिंसा का दिखावा करे, तो यह अहिंसा का विशुद्ध एवं परिपूर्ण रूप नहीं होगा। अनेकान्तवाद विचारों को प्रकाशमान बनाता है। आचरण की अहिंसा से पूर्व विचार के क्षेत्र में अनेकान्तवाद का होना परम आवश्यक है।

एक बार आचार्य हरिभद्र से—जो अपने युग के एक महान् दार्शनिक एवं विचारक थे, पूछा गया था कि मुक्ति किसे मिलती है? इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा—"जिस आत्मा में समभाव आ चुका है, वस्तुतः वही मुक्ति का अधिकारी है। फिर वह व्यक्ति भले ही श्वेताम्बर हो, दिगम्बर हो, बौद्ध हो, शैव हो अथवा वैष्णव हो।"[२] समभाव अथवा समत्व-योग यही श्रमण-संस्कृति का सारतत्त्व कहा जा सकता है। समभाव की साधना ही सच्ची साधना है।

---

२. सेयंवरो य आसंवरो य बुद्धो वा तहय अन्नो वा।
समभाव-भाविअप्पा लहइ मोक्खं न सन्देहो ॥

एक दूसरे स्थान पर भी आचार्य हरिभद्र ने कहा है—"मेरा न कपिल पर द्वेष है और न महावीर पर अनुराग है। मैं तो उसी की बात को स्वीकार करता हूँ, जो तर्क-संगत, युक्तियुक्त और जीवनोपयोगी हो।" श्रद्धापूर्वक तर्क और तर्कपूर्वक श्रद्धा से ही हमारे जीवन का विकास हो सकता है। तर्कशून्य श्रद्धा अन्ध-विश्वास की ओर ले जाती है, श्रद्धाशून्य तर्क मनुष्य को सीमाहीन अनन्त आकाश में उड़ाता है। यही कारण है कि जीवन में श्रद्धा और तर्क दोनों को श्रमण-दर्शन में समान अधिकार प्राप्त हुआ है।

अहिंसा और अपरिग्रह की जन-जीवन में जितनी आवश्यकता आज है, उतनी शायद पहले कभी न रही होगी। अहिंसा का अर्थ है—प्रेम एवं प्रीति, और अपरिग्रह का अर्थ है—अनासक्ति अथवा इच्छाओं का सीमाकरण। आज के जन-जीवन में हिंसा और परिग्रह का जो नग्न ताण्डव नृत्य हो रहा है, उसने मानवता की जड़ों को हिला दिया है। आज का मानव, फिर भले ही वह किसी भी देश का, किसी भी जाति का, किसी भी वर्ग का क्यों न हो, शांति की अभिलाषा रखता है, किन्तु आज की विषम परिस्थिति में उसे कहीं पर भी शान्ति नजर नहीं आ रही है। किसी युग में मानव ने विभिन्न सम्प्रदायों और पन्थों को जन्म दिया था, फिर उसने उनका संघर्ष भी देखा, जिसका मौलिक समाधान उसे महावीर के अनेकान्तवाद में मिला। आज के समाज की विषम समस्याओं को सुलझाने का उपाय एकमात्र अहिंसा और अपरिग्रह ही हो सकता है। मध्य युग का मानव यदि पन्थों से परेशान था, तो इस अणुयुग का मानव राजनीति के पन्थों और सम्प्रदायों से परेशान और हैरान बन चुका है। समाजवाद, साम्यवाद, सर्वोदयवाद और दूसरे-दूसरे राजनीतिक दल आज समाज की विषमताओं को दूर करने की घोषणा तो करते हैं, पर उसे दूर करने में वे सभी विफल रहे हैं। मेरा विश्वास है, कि यदि दुनिया के सभी पन्थों और राजनीतिक दलों को मिटा दिया जाए और आज का समग्र मानव समुदाय यदि सच्चे हृदय से अनेकान्त, अहिंसा और अपरिग्रह को स्वीकार कर ले, तो उसके जीवन को व्याकुल बनाने वाली अशान्ति दूर हो सकती है और उसका वर्तमान जीवन शान्त, सुन्दर और मधुर बन सकता है। भगवान् महावीर के धर्म का, दर्शन का और संस्कृति का सार इन तीन शब्दों में ही है—अनेकान्त, अहिंसा और अपरिग्रह। ★

—पं० विजयमुनि, शास्त्री, साहित्यरत्न

५

श्रमण संस्कृति का अहिंसा दर्शन एवं विश्वधर्म-समन्वय

आदिमयुग का मानव और जीवन में अहिंसा का उदय :

मानव-विकास के क्रमों पर आज की वैज्ञानिक दृष्टि सर्वप्रथम आदिम युग पर जा टिकती है। आदिम युग का मानव जंगलों में भटका करता था। जंगली जानवरों का शिकार करना, उनके कच्चे-अधपके मांस से क्षुधा तृप्ति करना, तथा उनकी खालों को वस्त्र की जगह पहनना, यही प्रायः उसका नित्य का जीवन था। आदिम मानव का यह जीवनक्रम बताता है कि अपने से इतर किसी भी प्राणी का मूल्य उसके लिए कुछ भी न था। बस, कुछ मूल्य था तो इतना ही कि उन्हें मारकर अपनी क्षुधापूर्ति करना एवं उनकी खाल को पहन लेना भर। तब के मानव को कहाँ यह पता था कि सभी प्राणी एक समान हैं, सभी हमारी तरह ही सुख-दुःखों का अनुभव करते हैं, हमारी तरह ही दुःखों से मुक्ति चाहते हैं और सुखों की कामना करते हैं।

इतिहास इसका प्रमाण है कि ऋषि-परम्परा से पूर्व श्रमण परम्परा ने मानवमात्र को यह ज्ञान प्रदान किया कि—"मानव ! जिस प्रकार तूने सुख एवं शांतिपूर्ण पथ से यात्रा करने के लिए मानवतन पाया है, उसी प्रकार विश्व के समस्त प्राणी भी सुख एवं शांति का जीवन चाहते हैं। अतः जिस प्रकार तुम अपना अहित नहीं कर सकते, अपना अहित नहीं देख सकते, अपने लिए कतई पीड़ा एवं दुःख नहीं चाह सकते—विश्व के अन्य सभी जीव भी अपने लिए ऐसा कुछ नहीं चाहते हैं। जीवन जीना है, तो क्या तामसिक वृत्तियों से ही जिया जा सकता है? क्या सात्विक

वृत्तियाँ जीवन-विकास में कोई बाधक हैं ? क्यों नहीं मांस भक्षण की जगह अन्न से क्षुधा तृप्ति की जाए ! क्यों नहीं पशुओं की खाल की जगह कपास की कृषि के द्वारा वस्त्र तैयार करके, सर्दी-गर्मी एवं लज्जा से अपने शरीर की रक्षा की जाए।"

मानव-जीवन के विकास का इतिहास आज भी इस बात को दुहरा रहा है कि श्रमण संस्कृति ने इस प्रकार मानवमात्र को परिबोध देकर मानव को मानव का जीवन प्रदान किया। श्री दिनकर जो जैसे साहित्यकारों की दृष्टि में मानव को पशु-जीवन से ऊपर उठाकर अहिंसा, दया, प्रेम एवं सहानुभूति के मार्ग पर लाकर मानवता का निर्मल जीवन प्रदान करने का प्रथम श्रेय भगवान् ऋषभदेव को ही मिलता है।

अहिंसा और विश्वधर्म समन्वय :

अहिंसा श्रमण संस्कृति—जैन संस्कृति--की विश्व संस्कृति को महान् देन है, ऐसा कहें तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। श्रमण-संस्कृति में अहिंसा, जीवन एवं धर्म की सबसे पहली कसौटी है, यानि अहिंसा के केन्द्र से ही श्रमण संस्कृति का पहला चरण बढ़ता है। जैनधर्म की उत्पत्ति का प्रथम सिद्धान्त ही अहिंसा-भावना है। पश्चात्, इस अहिंसा को भारत के अन्य धर्म एवं संस्कृतियों ने भी एकभाव से हृदयंग कर लिया। आगे चलकर तो यह अहिंसा करुणा, प्रेम एवं सहिष्णुता के रूप में भारतीय संस्कृति का प्राण ही बन गई; जैनदर्शन का तो यह हृदय ही है। इसकी विशद व्याप्ति में सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य आदि समस्त व्रतों का स्वतः समावेश हो जाता है।[1] श्रमण संस्कृति का मूलस्वरूप अहिंसा है और सत्य आदि उसका विस्तार है। ब्रह्मचर्य उसकी साधना है, अस्तेय और अपरिग्रह उसका तप है।

---

१. अहिंसा-गहणे महव्वयाणि गहियाणि भवंति।
संजमो पुण तीसे चेव अहिंसाए उदग्गहे वट्टइ,
सपुण्णाय अहिंसाय संजमो वि तस्स वट्टइ।
—दशवैकालिक, चूर्णि १ अध्ययन।

अहिंसा का अर्थ :

अहिंसा के विषय में आजतक जितना लिखा गया है, शायद ही किसी अन्य विषय पर इतना लिखा गया हो। पर, इसके साथ ही जितनी भ्रांतियाँ अहिंसा के सम्बन्ध में आज तक हुई हैं, और किसी विषय में उतनी नहीं हुईं। इस विरोधात्मक स्थिति का एक सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक कारण है।

वस्तुत: जो सूक्ष्म है, यदि उसे स्थूल बना दिया जाता है, तो उसकी आत्मा समाप्त हो जाती है। यही बात अहिंसा के सम्बन्ध में भी है। अहिंसा मात्र बाह्य व्यवहार का स्थूल विधि-निषेध नहीं है, बल्कि अंतर् चेतना का एक सूक्ष्म भाव है। किंतु दुर्भाग्य से कुछ ऐसी स्थिति बनती गई कि अहिंसा का सूक्ष्मभाव निरंतर क्षीण होता गया और उसको ओघबुद्धि से मात्र स्थूल व्यवहार का—दिखाऊ-विधि-निषेधों का रूप दे दिया गया। फलत: अहिंसा की ऊर्जा और आत्मा एक प्रकार से समाप्त ही हो गई। जब किसी सिद्धान्त की ऊर्जा एवं आत्मा समाप्त हो जाती है, तो वह निष्प्राण तत्त्व जीवन को तेजस्वी नहीं बना सकता। वह जीवन की समस्याओं का सही समाधान नहीं खोज सकता और वह स्वयं ही एकदिन एक समस्या बन जाता है। क्या स्थूल व्यवहार से सम्बन्धित अहिंसा के सम्बन्ध में भी ऐसा ही नहीं हुआ है? पिछली कितनी ही सहस्राब्दियों से हमने अहिंसा की महान् धर्म के रूप में उद्घोषणा की है। अहिंसा को जीवन का परम सत्य मानकर उसकी उपासना की है। सामाजिक, आध्यात्मिक एवं राजनीतिक जीवन की सुरक्षा का आधार अहिंसा को माना है, तथा इसे विश्वव्यापी सिद्धान्त के रूप में हजारों वर्षों से मान्यता दी है। हजारों वर्षों से पीढ़ी-दर-पीढ़ी इसके महत्त्व की चर्चा-परिचर्चा होती आरही है। परन्तु प्रश्न है, इस सबकी फल-निष्पत्ति कहाँ है? हम अब तक अहिंसक समाज की संरचना क्यों नहीं कर पाए? इस प्रश्न के दो ही उत्तर हो सकते हैं। प्रथम यह कि जिस अहिंसा तत्त्व की हम बात करते हैं, वह केवल बौद्धिक व्यायाम भर बनकर रह गया है। ऐसा लगता है, जैसे वह किसी कल्पना लोक का कोई अलौकिक तत्त्व है, जिसका धरती की दुनिया के साथ कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है। गलत समस्या के आस-पास हजारों

मस्तिष्क व्यर्थ ही उलझते रहे हैं और आज भी उलझ रहे हैं। अथवा इसका दूसरा ही एक विकल्प है। वह यह कि अहिंसा स्वयं तो एक जीवित-जागृत तत्त्व है[२], जन कल्याणकारी है, पर उसको सही अर्थ में हमने जाना नहीं है। ऐसा लगता है कि कभी-कभी वड़ी लम्वी काल-यात्रा के वाद अच्छे सिद्धान्त भी धूमिल हो जाते हैं या धूमिल कर दिए जाते हैं।

वस्तुतः अहिंसा का सम्बन्ध मनुष्य के हृदय के साथ है, मस्तिष्क के साथ नहीं। मस्तिष्क के साथ नहीं है, इसका भावार्थ यह है कि तर्क-वितर्क के साथ नहीं है, कुछ वँधे-वँधाए विवेक-शून्य विश्वासों के साथ नहीं है, विभिन्न शब्दों के जाल में बँधी और उलझी हुई भाषा के साथ भी नहीं है, वल्कि अन्तर्जीवन के साथ है, अन्दर की गहरी आध्यात्मिक अनुभूति के साथ है। अहिंसा की भूमि जीवन है। जिस प्रकार भूमि से वृक्ष का सम्वन्ध टूट जाने पर वह फिर हरा-भरा एवं विकसित नहीं रह पाता, उसी प्रकार जीवन से असंपृक्त रखकर अहिंसा को भी किस प्रकार पल्लवित रखा जा सकता है ? जीवन से असंपृक्त रखने का ही दुष्परिणाम है कि आज अहिंसा केवल स्थूल-व्यवहार की क्षुद्र सीमा में आवद्ध हो गई है। जन-जीवन में उसका रस-संचार क्षीण एवं क्षीणतर हो गया है। और इस प्रकार अहिंसा के प्राणों की एक तरह से हत्या ही हो गई है।

यदि अहिंसा की प्राण-प्रतिष्ठा करनी है, तो आवश्यकता इस वात की है कि अहिंसा को हम स्थूल-व्यवहार की संकीर्ण परिधि से मुक्त कर उसे व्यापक वनाएँ, जीवन की सूक्ष्म अनुभूति एवं हृदय की गहराई तक उसे अवतरित करें[३]।

---

२. जे य वुद्धा अतिक्कंता, जे य वुद्धा अणागया।
संति तेसिं पइट्ठाणं, भूयाणं जगई जहा॥
सू० श्रु० १, अ० ११, गा० ३६।

३. अज्झत्थं सव्वओ सव्वं, दिस्स पाणे पियायए।
न हणे पाणिणो पाणे, भयवेराओ उवरए॥
उत्तराअध्ययन ६, गा. ७

मन की वृत्तियाँ और अहिंसा :

निवृत्ति और प्रवृत्ति के मध्य में वृत्ति है। वृत्ति का अर्थ है—चेतनाभाव। यही निर्मल-चेतना भाव मन को तरंगित करता है। अहिंसा इन्हीं उदात्त एवं कल्याणकारी चेतना-तरंगों के आधार पर जीवन की स्थूल व्यवहार धारा में प्रवहमान विधि-निषेधों के रूप में प्रकट होती है। इसे ही हम प्रवृत्ति और निवृत्ति कहते हैं।

धरती के समग्र अध्यात्मवादी एवं मानवतावादी दर्शन व्यवहार के स्थूल विधि-निषेधों के साथ अहिंसा का सम्बन्ध स्थापित नहीं करते हैं। मानवमन की मूल पवित्र वृत्ति के साथ ही अहिंसा को सम्बन्वित करते हैं। यही वृत्ति जीवन है। यही अहिंसा का बीज है। यही सब कुछ है। यदि यह नहीं है तो कुछ भी नहीं है। अहिंसा के क्रान्तद्रष्टा ऋषि उक्त बीज की जितनी चिन्तना करते हैं, उतनी इधर-उधर के विधि-निषेधरूप फल, फूल और टहनियों की नहीं। वाह्य-व्यवहार के आधार पर खड़े किए गये अहिंसा के विधि-निषेध देश, काल तथा व्यक्ति की स्थितिविशेष के अनुसार बदलते रहते हैं, मूल बीज नहीं बदलता है। किंतु मध्यकाल के सामाजिक व्यवस्थापक—चाहे वे धार्मिक रहे हों अथवा राजनीतिक—अहिंसा को, उसकी मौलिक सूक्ष्मता से पकड़ नहीं सके हैं। निवृत्ति और प्रवृत्ति के स्थूल परिवेश में ही अहिंसा को मानने और मनवाने के आसान तरीके अपनाते रहे और यथाप्रसंग तात्कालिक समाधान निकालते रहे। किंतु हिंसा की समस्या ऐसी नहीं थी, जो प्रचलित परम्परा के स्थूल चिन्तन से एवं विधि-निषेध के भाव-हीन विधानों से समाधान पा जाती। वह नये-नये रूपों में प्रकट होती रही और मानव-जीवन के सभी पक्षों को दूषित करती रही। यही कारण है कि हजारों वर्षों से समस्या समस्या ही बनी रही। कोई भी समाधान उभरते प्रश्नों को मिटा नहीं सका। यदि हम इधर-उधर के विकल्पों में न उलझ कर अहिंसा की मूल भावना को समझने का प्रयत्न करें, तो आज भी अहिंसा के मूल केन्द्रस्वरूप आन्तरिक वृत्ति पर अहिंसक समाज की रचना हो सकती है। मैं यह स्पष्ट रूप से कह सकता हूँ कि अहिंसा के आधार पर परस्पर सहयोगी समाज की रचना के लिए निवृत्ति और प्रवृत्ति के

प्रचलित व्यामोह के ऐकान्तिक आग्रह को हमें क्षीण करना होगा, तभी हम मानव की आन्तरिक वृत्ति से सम्बन्धित अहिंसा के वास्तविक रूप को समझ सकेंगे।

निर्भयता : अहिंसा का प्रथम सोपान :

कई बार, अहिंसा के विषय में मर्मोद्घाटन करते हुए, लोगों के मुँह से यह सुनता हूँ कि—किसी को कष्ट मत दो, किसी के प्राणों का वध मत करो, किसी को रुलाओ मत। यदि तुम दूसरों को कष्ट दोगे, तो तुम्हें भी कष्ट भोगने पड़ेंगे। यदि किसी को मारोगे तो तुम्हें भी मरना पड़ेगा। किसी को रुलाओगे, तो तुम्हें भी रोना पड़ेगा। इस प्रकार अपने दुःखों की विभीषिका व्यक्ति को भयभीत कर देती है और इसी चिंतनधारा में व्यक्ति दूसरों को परिताप पहुँचाने से अपने आपको बचाने का प्रयत्न करने लगता है। इस भयपरक उपदेश ने मनुष्य के मन में एक प्रकार से भय की भावना उत्पन्न करदी, जो अपने आप में स्वयं एक हिंसा है। उसकी जगह होना यह चाहिए कि व्यक्ति जब किसी को किसी भी प्रकार का कष्ट न पहुँचाना चाहे तो उसके विचारने के मूल में सहानुभूति की भावना रमे। जिस प्रकार हम दुःख सहन करना नहीं चाहते, किसी प्रकार का कष्ट-भोग अपने लिए नहीं चाहते, विश्व के अन्य सभी प्राणी भी इसी प्रकार दुःखोंसे मुक्ति चाहते हैं,कष्टों से दूर रहना चाहते हैं। अहिंसा के सम्बन्ध में सोचने की दिशा जब यह होती है, तब कहीं मानव-मन में विशुद्धरूप से अहिंसा का शाश्वत स्वर फूट सकता है, अन्यथा नहीं। भय पर निर्भयता एवं सहानुभूति की विजय ही अहिंसा का प्रथम सोपान है। भय की उक्त स्थिति में तो प्रवृत्ति और निवृत्ति के स्थूल स्तर पर अहिंसा प्रकाशमान होती दिखने लगती है, और हम इतने भर से संतोष कर लेते हैं; परन्तु अन्य किसी प्रसंगविशेष पर जब यह समझाया जाता है कि अपने दुश्मनों को समाप्त कर दो, साम्राज्य मिलेगा; यज्ञ में देवताओं के लिए पशुओं को समर्पित कर दो, स्वर्ग एवं सुख-सम्पदा मिलेगी; संघर्षरत प्रतिद्वन्द्वियों को परास्त कर दो, तुम्हें सम्मान मिलेगा; इतिहास इसका साक्षी है कि इस प्रकार के प्रलोभनों से प्रभावित होकर न जाने कितने क्रूर एवं भयानक कारनामे मानव जाति ने किए हैं। किन्तु सोचने की

बात है कि यह सब क्यों हुआ ? किस कारण हुआ ? स्पष्ट है, पहले की अहिंसा के मूल में भय की भावना भरी हुई थी, जिसने हिंसा को दवाए रखा, किन्तु ज्योंही भय के स्थान पर प्रलोभन आ खड़ा हुआ कि व्यक्ति गड़वड़ा गया। प्रलोभन ने हिंसा-भावना को फिर से उत्तेजित कर दिया। प्रलोभन हिंसा को इसी कारण उत्तेजित कर सका कि हमने अन्तर्मन में वृत्ति की हिंसा को छोड़ने के लिए उचित ध्यान नहीं दिया। यदि वृत्ति की अहिंसा जाग जाती है, तो दुनिया का कोई भी भय या प्रलोभन हिंसा को जन्म नहीं दे सकता। जो अहिंसा केवल स्थूल प्रवृत्ति-निवृत्ति में है, विधि-निषेध में है, साधारण-सा विरोधा वातावरण एवं कारण भी उसे समाप्त कर देता है। उसका मूल जन-जीवन में स्थायी नहीं होता।

वृत्ति की अहिंसा का अर्थ है—जीवन की गहराई में अहिंसा की भावधारा का सतत प्रवाहित होना। जो अन्दर को वृत्ति से अहिंसक है, वह किसी को मार नहीं सकता। किसी को कष्ट नहीं दे सकता। किसी के प्राणों का वध नहीं कर सकता। अन्तर् से स्वतःस्फूर्त अहिंसा के मूल में किसी भय अथवा प्रलोभन की भावना नहीं होती। ऐसा होने से हिंसा की मूल वृत्ति ही निर्मूल हो जाती है। यह अहिंसा मरणोत्तर स्वर्ग के लिए, वर्तमान की भौतिक सुख-सम्पदा के लिए अथवा प्रतिष्ठा के लिए नहीं होती। वृत्ति के अहिंसक की स्वयं ही यह सहज अवस्था हो जाती है कि वह हिंसा कर ही नहीं सकता, चाहे उसके लिए प्राप्त प्रतिष्ठा ही क्यों न खोनी पड़े, जीवन को दाँव पर ही क्यों न लगा देना पड़े। उसके लिए अहिंसा स्वाभाविक हो जाती है। मुझे शत्रु से भी प्रेम करना चाहिए—यह सिद्धान्त उसका नहीं होता, बल्कि दुनिया में उसका कोई शत्रु ही नहीं होता। यह है वृत्ति की अहिंसा, जो अहिंसा का शाश्वत और सर्वव्यापी रूप है।

अहिंसा का अन्तर्हृदय :

अहिंसा जीवन का महान् वरदान है। मानव यदि मानव है, तो वह सर्वप्रथम एक करुणामूर्ति प्राणी है, जिसके प्रथम हृदय है, फिर मस्तिष्क। जिस प्रकार मस्तिष्क तर्क की भूमि है, जोड़-तोड़ की स्थली है, उसी प्रकार हृदय श्रद्धा, प्रेम एवं करुणा का सुकोमल स्थल है।

मानवता से आप्लावित मानव जीवन का अंतर्हृदय अहिंसा है। अहिंसा इसलिए उसका अंतर्हृदय है, क्योंकि यही वह स्थल है, जहाँ से वह स्व-आत्मा के समान पर-आत्मा को समझता है, समान भाव से सबके लिए—सभी प्राणियों के लिए सुख-दुःख की समान रूप से अनुभूति करता है। इसका सीधा-सा अर्थ है कि वह विश्व की समस्त आत्माओं को समदृष्टि से देखता है। चैतन्यमात्र के प्रति अपने-पराये का भेद न रखते हुए, समतापूर्ण व्यवहार करता है। इसी भावना को लक्ष्य करके श्रमण संस्कृति के उन्नायक भगवान् महावीर ने कहा था—"सभी प्राणों को, सभी भूतों को, सभी जीवों को तथा सभी सत्वों को न तो मारना चाहिए, न पीड़ित करना चाहिए और न ही उनको घात करने की बुद्धि से स्पर्श करना चाहिए। यही धर्म शुद्ध, शाश्वत और नियत है[४]।" इसी भावना को विस्तृत करते हुए दशवैकालिक सूत्र में कहा है—"सब आत्माओं को अपनी आत्मा की तरह समझो। विश्व के सभी प्राणियों की आत्माओं में अपने आपको देखो और विश्व की समस्त आत्माओं को अपने भीतर देखो[५]।" वस्तुतः यह साधना समत्वयोग की साधना है, जिसका मूल आधार विश्व की समग्र आत्माओं के साथ अपने जैसा व्यवहार करना है। हम अपने लिए जिस प्रकार का व्यवहार दूसरों से चाहते हैं, हम अपने लिए जिस प्रकार की स्थिति की अपेक्षा दूसरों से करते हैं, अन्य समस्त प्राणियों के लिए भी हम वैसा ही व्यवहार करें वैसी ही स्थिति निर्मित करें—यही अहिंसा का अन्तर्हृदय है।

आत्मौपम्य दृष्टि :

भगवान् महावीर ने विश्वप्राणियों के मध्य समता की संस्थापना करते हुए कहा था कि 'विश्व की सभी आत्माएँ एक हैं।'[६] अर्थात्

---

४. सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता
　न हंतव्वा, न अज्जावेयव्वा, न परिघेतव्वा,
　न उवद्दवेयव्वा—एस धम्मे सुद्धे नियए सासए।
　　　　　　　　　　—आचारांग सूत्र

५. सव्वभूयप्पभूयस्स, सम्मं भूयाइं पासओ। —दशवैकालिक, ४।९

६. एगे आया। —ठाणांग, सूत्र १-१

सभी प्राणी संग्रह और व्यवहार नय की दृष्टि से एक ही चैतन्य सागर को अलग-अलग बूँदें हैं, एक ही मूल चैतन्य भाव को अलग-अलग पत्तियाँ एवं फूल हैं, जो सभी एक साथ मिलकर सागर का रूप लेती हैं, विशाल वृक्ष का पर्याय बनती हैं। यथार्थ में यह भावना अपने अन्दर में धारण करना एक महान् योग है। इसी को गीता में श्रीकृष्ण ने यों कहा है—"जो सभी जीवों को अपने समान समझता है और उनके सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझता है, वही परम योगी है"[७]। यह समत्व योग की साधना ही आत्मा की साधना है, अपने आपको साधने का पथ है। इसी भावना को सर्वोपरि बताते हुए भगवान् महावीर ने कहा है—"विश्व के समग्र जीवनिकाय को अपनी आत्मा के समान समझो"[८]। "प्राणिमात्र को आत्मतुल्य समझो"[९]। अतः हम कह सकते हैं कि यह आत्मौपम्य दृष्टि, जिसके विषय में भगवान् महावीर ने उद्घोष किया है, इसके मूल में अहिंसा के अमृत सागर की लहरें ही हिलोरें ले रही हैं। यह अहिंसा सागर की लहरें, जिस भावना तल पर लहरा रही हैं, उसकी साधना सामान्य साधना नहीं है; अपितु वीरत्व की महान् साधना है।

अहिंसा : वीरत्व का मार्ग :

वस्तुतः यह जो अहिंसा की साधना है; यह आत्मा के विराट् भाव की साधना है। आत्मा का भावनात्मक दृष्टि से इतना व्यापक रूप में विकास कर लेना है कि विश्व की सभी आत्माएँ उसमें ठीक उसी प्रकार समाहित हो जाएँ, जिस प्रकार कि भूतल पर लहराने वाली अनेकों नदियाँ सागर में आकर एकीभाव से समाहित हो जाती हैं और सागर विना किसी राग-द्वेष से सबको अपने अंक में सँजोता-सहेजता चला जाता है। वस्तुतः यह राग-द्वेष पर विजय ही तो अहिंसा का पथ है, और उक्त विजय को प्राप्त करने वाला ही तो सच्चे

---

७. आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

—गीता, अ० ६।३२

८. अत्तसमे मण्णिज्ज छप्पिपकाए। —दश वैकालिक, १०।५

९. आयतुले पयासु। —सूत्र कृतांग सूत्र, १।१०।३

अर्थ में विजेता है। विजेता, हम उसे कभी नहीं कह सकते, जो हाथ में नंगी तलवार लिए भय और आतंक के बल पर किसी पर शासन करे। किसी को अपने अधीन रखे। हाथ में बम लेकर दूसरों को भय दिखाकर अपने आगे झुकाने का प्रयत्न करने वाला तो सही माने में वीर कहलाने का अधिकारी हो ही नहीं सकता। वह तो कायर है। जो परमुखापेक्षी होता है, वह कायर ही है, और क्या ? वह अपनी महान् चैतन्य शक्ति की अपेक्षा जड़ शक्ति पर अधिक भरोसा करता है। सच्चा वीर तो वह है, जिसके चरणरज विश्व के समस्त प्राणी श्रद्धा एवं प्रेम से चूम लें, अपने सर पर लगा लें। यहाँ हमें राष्ट्रकवि 'दिनकर' की वे पंक्तियाँ बड़ी युक्तियुक्त लगती हैं, जहाँ उन्होंने कहा है—

"....आदमी नहीं मरता बरछों से तीरों से,
लोहे की कड़ियों की साजिस बेकार हुई,
बाँधो मनुष्य को शबनम की जंजीरों से।"

डा० एस० राधाकृष्णन ने एक जगह चालू युग पर करारी चोट करते हुए, अहिंसा के महत्त्व पर प्रकाश डाला है—"यह जमाना हथियारबन्द कायरता का है। कायरता ने अपने हाथ में हथियार इसलिए रखे हैं कि वह दूसरों के हमलों से डरती है और स्वयं हथियार इसलिए नहीं चलाती क्योंकि उसे हिम्मत नहीं होती। जो डर के मारे हथियार चला नहीं पाती, उसी का नाम कायरता है। इस कायरता से इंसान को उबारने वाली एक ही शक्ति है और वह है अहिंसा।" अतः यह स्पष्ट है कि अहिंसा कायरता नहीं सिखाती, अपितु वीरता का पाठ पढ़ाती है। अहिंसा यह कभी नहीं कहती कि तुम चुप रहकर अन्याय एवं अत्याचार को सहन करो, क्योंकि अन्याय करना पाप है, तो दैन्यभाव से अन्याय का सहन करना महापाप है। चाहे वह सामाजिक क्षेत्र में हो, अथवा राजनीतिक क्षेत्र में, बात लगभग एक ही है। जिस व्यक्ति में अन्याय के विरुद्ध योग्य प्रतिकार करने की शक्ति नहीं है, वह न तो अपनी रक्षा कर सकता है, न अपने परिवार की, न समाज की और न अपने राष्ट्र की ही रक्षा कर सकता है। और वह अहिंसा, अहिंसा नहीं, जिसके निष्प्राण शरीर से चिपट कर आदमी अपने राष्ट्र तक को दासता की बेड़ी में जकड़ जाने दे। ऐसी अहिंसा का जीवन में कोई मूल्य नहीं।

दण्ड और अहिंसा :

अन्याय के प्रतिकार की जब बात सामने आती है, तब यह प्रश्न सामने खड़ा हो जाता है कि अपराधी व्यक्ति को जब दण्ड दिया जाता है, तब उसे शारीरिक, मानसिक पीड़ाएँ होती हैं। उसे कष्ट होता है और कष्ट देना हिंसा है। और यदि दण्ड नहीं दिया जाता है, तो अन्याय को बढ़ावा मिलता है, समाज में अनैतिक कार्यों में और भी वृद्धि होती है और जन-जीवन असुरक्षित एवं अशांतिपूर्ण होकर और भी पीड़ित हो उठता है। अहिंसा का दर्शन इस सम्बन्ध में क्या समाधान देता है ?

वस्तुतः अहिंसा-दर्शन हृदय परिवर्तन का दर्शन है। वह मारने का नहीं, सुधारने का दर्शन है। वह संहार का नहीं, उद्धार एवं निर्माण का दर्शन है। अहिंसा-दर्शन का दण्ड के सम्बन्ध में कुछ ऐसा विचार है कि अपराधी के अन्दर स्नेह एवं सहानुभूति की भावना भरकर मनोवैज्ञानिक प्रणाली से उसमें सुधार किया जाए, अपराधी को मिटाने की अपेक्षा अपराध के कारणों को मिटाना, कहीं ज्यादा श्रेयस्कर है। भारत सरकार ने भी अहिंसा के इस मनोवैज्ञानिक धरातल को आज के युग में युक्तियुक्त समझकर अपनी राजनीति एवं दण्डनीति में इसे महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। बाल सुधार केन्द्र, वनिताविकास मण्डल आदि के रूप में सरकार की ओर से किए गए इस दिशा में कुछ ऐसे ही प्रयत्न हैं।

भगवान् महावीर का अहिंसा के सम्बन्ध में यह अमृतमय संदेश है कि—पापी से पापी व्यक्ति से भी घृणा मत करो। बुरे आदमी और बुराई के बीच अन्तर करना चाहिए। बुराई सदा बुराई है, वह कभी भलाई नहीं हो सकती। परंतु बुरा आदमी प्रसंग एवं वातावरण के अनुसार भला आदमी बन सकता है। मूल में कोई आत्मा बुरी है ही नहीं। असत्य के बीच में भी सत्य, अन्धकार के बीच में भी प्रकाश छिपा हुआ है। विष भी अपने अन्दर में अमृत को सुरक्षित रखे हुए है। अच्छे-बुरे—सब में ईश्वरीय ज्योति जल रही है। अपराधी व्यक्ति में भी यह ज्योति है, किन्तु दबी हुई है। हमारा प्रयत्न ऐसा होना चाहिए कि वह ज्योति बाहर आए, ताकि समाज में अपराध की मनोवृत्ति का अन्धकार दूर हो।

अपराधी को कारागार की निर्मम यंत्रणाओं से भी सुधारा नहीं जा सकता। प्रायः ऐसा होता है कि कारागार से अपराधी गलत कार्य करने की पहले से भी कहीं अधिक तीव्र भावना लेकर लौटता है। वह जरूरत से ज्यादा कड़वा हो जाता है, एक प्रकार से समाज का उद्दंड, विद्रोही और बागी हो जाता है। फाँसी आदि के रूप में दिया जाने वाला प्राणदण्ड एक प्रका' से कानूनी हत्या नहीं तो और क्या है ? प्राणदंड का दंड तो सर्वथा अनुपयुक्त दंड है। कारण, भय के वश से भले ही कुछेक व्यक्ति उस प्रकार का अपराध करना छोड़ दें, किन्तु इससे उनके अन्दर में निहित अपराध की मनोवृत्ति तो समाप्त नहीं हो पाती। ऐसे में तो कभी-कभी सही न्याय भी नहीं हो पाता, और भ्रांतिवश निरपराध भी प्राणदंड का भागी हो जाता है। भगवान् महावीर ने अपने एक संदेश में नमि राजर्षि के वचन को प्रमाणित किया है कि कभी-कभी मिथ्या दंड भी दे दिया जाता है। मूल अपराधी साफ बच जाता है और बेचारा निरपराध व्यक्ति मारा जाता है—"**अकारिणोऽत्थ बज्झंति, मुच्चई कारगो जणो।**" कल्पना कीजिए, इस स्थिति में यदि कभी निरपराध को प्राणदंड दे दिया जाए, तो क्या होगा ? वह तो दुनिया से चला जाएगा, और उसके पीछे यदि कहीं सही स्थिति प्रमाणित हुई, तो न्याय के नाम पर उस निरपराध व्यक्ति के खून के धब्बे ही शेष रहेंगे ! रोगी को रोगमुक्त करने के लिए रोगी को ही नष्ट कर देना, कहाँ का बौद्धिक चमत्कार है ? अहिंसा-दर्शन इस प्रकार के दण्ड-विधान का विरोध करता है। उसका दृष्टिकोण है कि दण्ड देते समय अपराधी के साथ भी अहिंसा का दृष्टिकोण रखना चाहिए। उसे मानसिक रोगी मान कर उसका मानसिक उपचार होना चाहिए, ताकि वह भी एक सभ्य एवं सुसंस्कृत नागरिक बन सके। समाज के लिए उपयोगी व्यक्ति हो सके। ध्वंश महान् नहीं है, निर्माण महान् है। अपराधी से अपराधी व्यक्ति के पास भी एक उज्ज्वल चरित्र होता है, जो कि कुछ वैयक्तिक एवं सामाजिक परिस्थितियों के कारण या तो दब जाता है, अथवा अविकसित रह जाता है। अतः न्यायालय के बौद्धिक वर्ग को अहिंसा के प्रकाश में दण्ड के ऐसे उन्नत, सभ्य एवं सुसंस्कृत मनोवैज्ञानिक तरीके खोजने चाहिएँ, जिनसे अपराधियों का सुप्त उज्ज्वल चरित्र सजग होकर, समाज के लिए उपादेय सिद्ध हो सके।

ऐसा हो सकता है कि कुछ अपराधी निम्न स्तर के हों, और उन पर मनोविज्ञान से सम्बन्धित भद्र प्रयोग कारगर न हो सकें, फलतः उनको शारीरिक दण्ड देना आवश्यक हो जाता है। इस अनिवार्य स्थिति में भी अहिंसा-दर्शन कहता है कि जहाँ तक हो सके, करुणा से कार्य लेना चाहिए। शारीरिक दण्ड भी सापेक्ष होना चाहिए, निरपेक्ष एवं अमर्यादित नहीं। शांत से शांत माता भी कभी-कभी उद्धत संतान को चाँटे मारने को विवश हो जाती है, क्रुद्ध भी हो जाती है, किन्तु अंतर् में उसका सहज, सौम्य मातृत्व क्रूर नहीं हो जाता, सुकोमल ही रहता है। माता के द्वारा दिए जाने वाले शारीरिक दण्ड में भी हितबुद्धि रहती है, विवेक रहता है, एक उचित मर्यादा रहती है। भगवान् महावीर का अहिंसा-दर्शन इसी भावना को लेकर चलता है। वह मानवचेतना के संस्कार एवं परिष्कार में अंत तक अपना विश्वास बनाए रखता है। उसका आदर्श है—अहिंसा से काम लो। यह न हो सके तो अल्प से अल्पतर हिंसा का पथ चुनो, वह भी हिंसा की भावना से नहीं, अपितु भविष्य को एक बड़ी एवं भयानक हिंसा के प्रवाह को रोकने की अहिंसा भावना से। इस प्रकार हिंसा में भी अहिंसा की दिव्य चेतना सुरक्षित रहनी चाहिए।

युद्ध और अहिंसा :

कभी-कभी यह सुनने में आता है कि कुछेक लोग यह कहते हैं—"अहिंसा व्यक्ति को कायर बना देती है, इससे आदमी का वीरत्व एवं रक्षा का साहस ही मारा जाता है।" किन्तु यह धारणा निर्मूल एवं गलत धारणा है। आत्मरक्षा के लिए उचित प्रतिकार के साधन जुटाना, जैनधर्म के विरुद्ध नहीं है; किन्तु आवश्यकता से अधिक संगृहीत एवं संगठित शक्ति अवश्य ही संहार लीला का अभिनय करेगी, अहिंसा को मरणोन्मुखी बना देगी। आप आश्चर्य न करें, पिछले कुछ वर्षों से जो शस्त्रसंन्यास का आन्दोलन चल रहा है, प्रत्येक राष्ट्र को सीमित युद्ध सामग्री रखने को जो कहा जा रहा है, उसे तो जैन तीर्थंकरों ने हजारों वर्ष पहले चलाया था। आज जो कार्य कानून एवं संविधान के द्वारा लिया जा रहा है, वह उन दिनों उपदेशों के द्वारा लिया जाता था। भगवान् महावीर ने बड़े-बड़े

राजाओ को जैनधर्म में दीक्षित किया था और उन्हें नियम कराया गया था कि वे राष्ट्ररक्षा के काम में आने वाले आवश्यक शस्त्रों से अधिक शस्त्रसंग्रह न करें। साधनों का आधिक्य मनुष्य को उद्दंड एवं अमर्यादित बना देता है। प्रभुता की लालसा में आकर वह कभी न कभी किसी पर चढ़ दौड़ेगा और मानव-जगत् में युद्ध की आग भड़का देगा। इस दृष्टि से जैन तीर्थंकरों ने हिंसा के मूल कारणों को ही उखाड़ने का प्रयत्न किया है। आज विज्ञान की चकाचौंध में भूला मानव भले यह गर्व करे कि एक-से-एक शक्तिशाली शस्त्रास्त्रों का निर्माण कर विज्ञान युद्ध को सदा के लिए समाप्त कर देगा; किन्तु यह मृगमरीचिका से कतई कम नहीं है। माना, विज्ञान ने कुछेक ऐसी चमत्कारी उपलब्धियों को प्रस्तुत कर दिखाया है, कि जिनसे आज का मानव चकाचौंध में पड़ गया है। किंतु चकाचौंध की दृष्टि कभी भी सही एवं स्थायी हित दृष्टि नहीं हो सकती।

विज्ञान और अहिंसा :

मानव-विकास का इतिहास इसका साक्षी है, कि जब-जब विज्ञान ने संहारक अस्त्र-शस्त्रों का बहुतायत में निर्माण किया है, मानव ने निहित स्वार्थवश उसका निर्ममता से प्रयोग किया है, फलस्वरूप भयंकर से भयंकर संहारक लीलाएँ देखने को मिली हैं। विश्व का प्रथम एवं द्वितीय महायुद्ध इसका ज्वलंत प्रमाण है। किन्तु हर बार देखा यही गया है कि मानव-मन ने उन संहारक शस्त्रास्त्रों से त्रस्त होकर परस्पर में सहानुभूति एवं सहअस्तित्व के आधार पर ही शांति की स्थापना की है। लीग आव नेशन्स एवं यू० एन० ओ० (संयुक्त राष्ट्रसंघ) इस दिशा में महत्त्वपूर्ण प्रयास है। और, उसके बाद अहिंसा एवं सहअस्तित्व के आधार पर जो शांति स्थापित की गई, वह बहुत अंशों में स्थायी सिद्ध हुई। अतः यह निश्चित है कि अहिंसा द्वारा सम्पादित विजय स्थायी एवं शाश्वत विजय होती है। इसी शाश्वत सत्य को अभिव्यक्त करते हुए राष्ट्रकवि दिनकर ने कहा है—

"ऐसी शांति राज करती है, तन पर नहीं, हृदय पर।
नर के ऊँचे विश्वासों पर, श्रद्धा, भक्ति प्रणय पर॥"

भले ही विज्ञान हमें विपुल परिमाण में शस्त्रास्त्र का खजाना प्रदान करे; किन्तु हमें उन शस्त्रास्त्रों को अपने ऊपर हावी नहीं

होने देना चाहिए, वल्कि उन्हें सदा अपने नियंत्रण में रखना चाहिए। शस्त्रास्त्रों का प्रयोग सुरक्षा एवं शांति की रक्षा के लिए मर्यादित तरीके से होना चाहिए। हर चीज के मूल में हित की भावना का होना परमावश्यक है। ऐसे में विज्ञान अहिंसा का सहचर सिद्ध हो सकता है, संहारक नहीं। मानव पहले मानव है, उसके पश्चात् और कुछ—इसका सदैव ध्यान रहना चाहिए।

अहिंसा और राजनीति :

विश्व के महान् राजनेताओं ने समय-समय पर विज्ञानप्रदत्त विपुल एवं भयानक संहारक शस्त्रास्त्रों से संत्रस्त होकर, शांति का मार्ग अहिंसा के द्वारा खोजने का प्रयत्न किया है। उन्होंने यह तथ्य पाया है कि शाश्वत शांति युद्ध की विभीषिका एवं आणविक शस्त्रास्त्रों के संहारक प्रयोग में नहीं, वल्कि अहिंसा एवं सह-अस्तित्व में निहित है।

भारत के प्रधानमन्त्री स्व० पंडित जवाहरलाल नेहरू ने अहिंसा को अपनी नीति में सदा महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। उनका पंचशील का निर्माण इस दिशा में महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक उपलब्धि है। सन् १९६१ में वेलग्रेड में हुआ आणविक विभीषिका के संरक्षणार्थ विश्व के विभिन्न राष्ट्रों का सम्मेलन भी, इस दिशा में गौरवपूर्ण प्रयास है। उक्त सम्मेलन में अहिंसा संबंधी सिद्धान्त को ही स्पष्ट करते हुए स्व० पं० जवाहरलाल नेहरू ने कहा था—"मानवता खतरे में हैं, हमें इसी पहलू से सोचना है। यानी जो जरूरी सवाल है, उस पर पहले सोचें, और यह जरूरी सवाल है—युद्ध और शांति का। जब विश्व विनाश की ओर वढ़ रहा है, तो दूसरे सवाल गौण हैं।····

····मुझे वड़ा ही ताज्जुब होता है कि महान् शक्तियाँ इसे इज्जत का प्रश्न वनाकर अपनी-अपनी वात पर दृढ़ हैं और यह इतनी महान् और शक्तिशाली हैं कि शांतिवार्ता के लिए तैयार नहीं। मेरा विश्वास है कि यह एक गलत रुख है इसमें उनकी इज्जत का ही प्रश्न नहीं, वल्कि मानव जाति के भविष्य का भी प्रश्न है।"

उक्त सम्मेलन में लंका की प्रधानमंत्री श्रीमती भंडार नायके ने अपनी हार्दिक भावना को व्यक्त करते हुए कहा था—"मैं इस सम्मेलन में भाग लेने सिर्फ अपने राष्ट्र की प्रधानमंत्री की हैसियत से ही नहीं आई हूँ, बल्कि एक स्त्री और माँ की हैसियत से भी.... ।

मैं एक क्षण के लिए भी ऐसा विश्वास नहीं कर सकती कि दुनिया म कोई भी माँ है, जो अपने बच्चों के पारमाणविक सक्रिय धूल के शिकार होने और घुल-घुलकर मरने की संभावना पर विचार कर सके।"

सम्मेलन के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए युगोस्लाविया के राष्ट्रपति मार्शल टीटो ने कहा था—"बेलग्रेड-सम्मेलन का उद्देश्य महान् शक्तियों को यह बतला देना है कि विश्व का भाग्य सिर्फ उन्हीं के हाथों में नहीं रह सकता।"[१०] इसी प्रकार के एक सम्मेलन में जो कि क्रेमिनल में रूस की तरफ से आयोजित था, उसमें बोलते हुए तत्कालीन रूसी प्रधानमंत्री एन० ख्रुश्चेव ने कहा था—"आंशिक अणुपरीक्षण प्रतिबंध-संधि अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व का आलेख है। किन्तु इस संधि से अणुयुद्ध का खतरा खत्म नहीं हुआ है। जबतक हथियारों के लिए दौड़ जारी रहेगी, तबतक यह खतरा बना रहेगा।" उक्त अवसर पर अमरीको विदेशमंत्री डीन रस्क ने कहा—"यह एक अच्छा पहला कदम है, और यदि इसके अनुगमन में और कदम बढ़े, तो मानव का शांति के लिए स्वप्न यथार्थ रूप पा सकेगा।" स्व० पं० नेहरू ने उस अणुपरीक्षण प्रतिबंध संधि पर हस्ताक्षर करते हुए कहा था कि—"मास्को में आज (५ अगस्त '६३ के) इस संधि पर हस्ताक्षर हो रहे हैं और प्रत्येक शांति प्रेमी को इसका स्वागत करना चाहिए। यद्यपि परीक्षणों पर यह आंशिक प्रतिबंध-संधि ही है, और निरस्त्रीकरण की दिशा में बहुत बड़ी प्रगति नहीं है, फिर भी यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि यह उस मंजिल की ओर ले जाने वाल प्रथम सोपान है।....भारत ने इस संधि पर हस्ताक्षर करना स्वीकार

---

१०. पारमाणविक विभीषिका। —विक्रमादित्यसिंह

कर लिया है। हम यह मानते हैं कि युद्ध-वर्जन-संधि जहाँ भी हो, उसका स्वागत किया जाएगा, क्योंकि उससे युद्ध का खतरा कम होता है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि विश्व के महान् शक्तिशाली एवं आणविक शक्ति सम्पन्न राष्ट्र भी अपनी राजनीति में प्रधानतः अहिंसा को ही स्थान देते हैं।

विश्वबन्धुत्व, विश्वशांति और अहिंसा :

इससे यह स्पष्ट है कि अहिंसा विश्वशांति का सबसे सुगम एवं श्रेष्ठ पथ है। जैसा कि हम पहले कह आये हैं, विश्व में जब-जब युद्ध की भयानक लीला से मानव संत्रस्त हुआ है, उसने शांति की तलाश अहिंसा के पथ से की है और यह निश्चय है कि तब अहिंसा ने ही उन्हें सही अर्थ में शांति प्रदान भी की है।

अहिंसा वह महान् शक्ति है, जो विश्व के समग्र चैतन्य को एक धरातल पर ला खड़ी करती हैं। अहिंसा समग्र जीवन में एकता देखती है, सब प्राणियों में समानता पाती है। इसी दृष्टि को स्पष्ट करते हुए भगवान् महावीर ने कहा था कि—"आत्मा एक है, एक रूप है, एक समान है। चैतन्य में जाति, कुल, समाज, राष्ट्र, स्त्री, पुरुष आदि के रूप में जितने भी भेद हैं, ये सभी आरोपित भेद हैं, बाह्य निमित्तों के द्वारा परिकल्पित किए गए मिथ्या भेद हैं। आत्माओं के अपने मूल स्वरूप में कोई भेद नहीं है और जब कोई भेद नहीं है, तो फिर मानव जाति में कलह एवं विग्रह कैसा? त्रास एवं संघर्ष कैसा? घृणा एवं वैर कैसा? यह सब भेदबुद्धि की देन है।"

आज जो विश्वनागरिकता की कल्पना कुछ प्रवुद्ध मस्तिष्कों में उड़ानें ले रही है, 'जयजगत्' का जो उद्‌घोष कुछ समर्थ चिन्तकों की जिह्वा से उच्चरित हो रहा है, उसको मूर्तरूप देना अहिंसा के द्वारा ही संभव है। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई आधार ही नहीं है, जो विभिन्न परिकल्पनाओं के कारण खण्ड-खण्ड हुई मानव जाति को एकरूपता दे सके। प्रत्येक मानव के अपने सृजनात्मक स्वातंत्र्य एवं मौलिक अधिकारों की सुरक्षा की गारंटी, जो विश्वनागरिकता

तथा 'जयजगत्' का मूल आधार है—उसे अहिंसा ही दे सकती है, अन्य कोई नहीं। अहिंसा विश्वास की जननी है। और, विश्वास परिवार, समाज, राष्ट्र तथा इस क्रम में सम्पूर्ण विश्व के पारस्परिक सद्भाव, स्नेह और सहयोग का आधार है। अहिंसा '**संगच्छध्वम्, संवदध्वम्**'' की ध्वनि को जन-जन में अनुगुंजित करती है, जिसका अर्थ है—'साथ चलो, साथ बोलो'। मानव जाति को एक सूत्र में बाँधने के लिए 'एकसाथ' का यह मन्त्र बड़ा महान् मन्त्र है। अहिंसा हृदय की वस्तु है, पवित्र निधि है। मानव-हृदय की व्यापक प्रगति ही तो अहिंसा है। और, इस संवेदना की व्यापक प्रगति ही परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व के उद्भव एवं विकास का मूल है। यह ठीक है कि इस विकास-प्रक्रिया में रागात्मक भावना का भी बहुत बड़ा अंश है, पर इससे क्या होता है? आखिर तो यह मानवचेतना की ही एक विशुद्ध भावनात्मक प्रक्रिया है और यह प्रक्रिया अहिंसा है। अहिंसा भगवती के अनंत रूपों में से यह भी एक रूप है। इस रूप को अहिंसा के मंगल क्षेत्र से बाहर ढकेलकर मानव मानवता के पथ पर एक चरण भी ठीक तरह नहीं रख सकता।

अहिंसा मानव जाति को हिंसा से मुक्त करती है, वैर, वैमनस्य, कलह, घृणा, ईर्ष्या-द्वेष, दुःसंकल्प, दुर्वचन, क्रोध, अभिमान, दम्भ, लोभ-लालच, शोषण, दमन आदि जितनी भी, व्यक्ति और समाज की ध्वंसमूलक विकृतियाँ हैं, ये सब हिंसा के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। इनको दूर करने का अहिंसा का सिद्धान्त है कि—क्रोध को क्रोध से नहीं, क्षमा से जीतो। अहंकार को अहंकार से नहीं, विनय एवं नम्रता से जीतो। दंभ को दम्भ से नहीं, सरलता और निश्छलता से जीतो। लोभ को लोभ से नहीं, संतोष से जीतो, उदारता से जीतो। इसी प्रकार भय को अभय से, घृणा को प्रेम से, जीतना चाहिए। अहिंसा प्रकाश की अन्धकार पर, प्रेम की घृणा पर, सद्भाव की वैर पर तथा अच्छाई की बुराई पर विजय का अमोघ उद्घोष है। यही वह पथ है, जिस पर चलकर मानव मानव को मानव समझ सकता है, उसे प्रेम की बाहों में भर सकता है। इसी से विश्वबंधुत्व एवं विश्वशांति का स्वप्न पूर्ण हो सकता है।

विभिन्न धर्मों में अहिंसा-भावना

अहिंसा की परिधि के अन्तर्गत समस्त धर्म और समस्त दर्शन समवेत हो जाते हैं। यही कारण है कि प्रायः सभी धर्मों ने इसे एक स्वर से स्वीकार किया है। हमारे यहाँ के चिन्तन में, समस्त धर्म-सम्प्रदायों में अहिंसा के सम्बन्ध में, उसकी महत्ता और उपयोगिता के सम्बन्ध में दो मत नहीं हैं, भले ही उसकी सीमाएँ कुछ भिन्न-भिन्न हों। कोई भी धर्म यह कहने के लिए तैयार नहीं कि झूठ बोलने में धर्म है, चोरी करने में धर्म है या अब्रह्मचर्य सेवन करने में धर्म है। जब इन्हें धर्म नहीं कहा जा सकता, तो हिंसा को कैसे धर्म कहा जा सकता है? हिंसा को हिंसा के नाम से कोई स्वीकार नहीं करता। अतः किसी भी धर्मशास्त्र में हिंसा को धर्म और अहिंसा को अधर्म नहीं कहा गया है। सभी धर्मों ने अहिंसा को ही परम धर्म स्वीकार किया है।

जैनधर्म में अहिंसा-भावना :

आज से पच्चीस-सौ वर्ष पूर्व भगवान् महावीर ने अहिंसा को नींव को सुदृढ़ बनाने के लिए, हिंसा के विरोध में क्रांति की। अहिंसा और धर्म के नाम पर हिंसा का जो नग्न नृत्य हो रहा था, जनमानस भ्रान्त किया जा रहा था, वह भगवान् महावीर से देखा नहीं गया। उन्होने हिंसा पर लगे धर्म और अहिंसा के मुखौटों को उतार फेंका और सामान्य जनमानस को उद्बुद्ध करते हुए कहा—'हिंसा कभी भी धर्म नहीं हो सकती। विश्व के सभी प्राणी—वे चाहे छोटे हों, या बड़े, पशु हों या मानव, सभी जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता[११]। सबको सुख प्रिय है, दुःख अप्रिय है। सबको अपना जीवन प्यारा है[१२]। जिस हिंसक व्यापार को तुम अपने लिए पसन्द नहीं करते, उसे दूसरा भी पसन्द नहीं करता। जिस दयामय व्यवहार को तुम पसन्द करते हो, उसे सभी पसंद करते हैं। यही जिन शासन के

---

११. सव्वे जीवावि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं।

—दशवैकालिक सूत्र ६।११

१२. सव्वे पाणा पिआउया सुहसाया दुहपडिकूला। —आचारांग सूत्र १।२।३

कथनों का सार है, जो कि एक तरह से सभी धर्मों का सार है[१३]। किसी के प्राणों की हत्या करना धर्म नहीं हो सकता। अहिंसा, संयम और तप यही वास्तविक धर्म है[१४]। इस लोक में जितने भी त्रस और स्थावर प्राणी हैं[१५], उनकी हिंसा न जानकर करो, न अनजान में करो और न दूसरों से ही किसी की हिंसा कराओ। क्योंकि सबके भीतर एकसी आत्मा है। हमारी तरह सबको अपने प्राण प्यारे हैं। ऐसा मानकर भय और वैर से मुक्त होकर किसी भी प्राणी की हिंसा न करो। जो व्यक्ति खुद हिंसा करता है, दूसरों से हिंसा करवाता है और दूसरों की हिंसा का अनुमोदन करता है, वह अपने लिए वैर ही बढ़ाता है[१६]। अतः प्राणियों के प्रति वैसा ही भाव रखो जैसा कि अपनी आत्मा के प्रति रखते हो[१७]। सभी जीवों के प्रति अहिंसक होकर रहना चाहिए। सच्चा संयमी वही है, जो मन, वचन और शरीर से किसी की हिंसा नहीं करता। यह है—भगवान् महावीर की आत्मौपम्य दृष्टि, जो अहिंसा में ओत-प्रोत होकर विराट् विश्व के सम्मुख एकात्मानुभूति का एक महान् गौरव प्रस्तुत कर रही है।

जैन दर्शन में अहिंसा के दो पक्ष हैं। 'नहीं मारना'—यह अहिंसा का एक पहलू है, उसका दूसरा पहलू है—मैत्री, करुणा और सेवा। यदि हम सिर्फ अहिंसा के नकारात्मक पहलू पर ही सोचें तो यह अहिंसा की अधूरी समझ होगी। सम्पूर्ण अहिंसा की साधना के लिए प्राणिमात्र के साथ मैत्री सम्बन्ध रखना, उसकी सेवा करना, उसे

---

१३. जं इच्छसि अप्पणतो, जं च न इच्छसि अप्पणतो।
तं इच्छ परस्स वि, एत्तियग्गं जिणसासणयं॥ —वृहत्कल्प भाष्य ४५८४

१४. धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो। —दशवैकालिक १।१

१५. जावन्ति लोए पाणा सा अदुव थावरा।
ते जाणमजाणं वा न हणे नोविघायए॥ —दशवैकालिक

१६. अज्झत्थं सव्वओ सव्वं दिस्स पाणे पियाउए।
न हणे पाणिणो पाणे भयवेराओ उवरए॥
—उत्तराध्ययन ८।१०

१७. समंऽतिवायए पाणे, अदुवाऽन्नेहिं घायए।
हणन्तं वाऽणुजाणाइ वेरं वड्ढई अप्पणो॥
—सूत्र कृताङ्ग १।१।१।३

कष्ट से मुक्त करना आदि विधेयात्मक पक्ष पर भी समुचित विचार करना होगा। जैन आगमों में जहाँ अहिंसा के साठ एकार्थक नाम दिए गए हैं, वहाँ वह दया, रक्षा, अभय आदि के नाम से भी अभिहित की गई है।[१८]

अनुकम्पा दान, अभयदान तथा सेवा आदि अहिंसा के ही रूप हैं, जो प्रवृत्तिप्रधान हैं। यदि अहिंसा केवल निवृत्तिपरक ही होती तो जैन आचार्य इस प्रकार का कथन कथमपि नहीं करते। 'अहिंसा' शब्द भाषाशास्त्र की दृष्टि से निषेध-वाचक है। इसी कारण बहुत से व्यक्ति इस भ्रम में फँस जाते हैं कि अहिंसा केवल निवृत्तिपरक है। उसमें प्रवृत्ति जैसी कोई चीज नहीं। किन्तु गहन चिन्तन करने के पश्चात् यह तथ्य स्पष्ट हुए बिना नहीं रहेगा कि अहिंसा के अनेक पहलू हैं, उसके अनेक अंग हैं। अतः प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों में अहिंसा समाहित है। प्रवृत्ति-निवृत्ति—दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। एक कार्य में जहाँ प्रवृत्ति हो रही है, वहाँ दूसरे कार्य से निवृत्ति भी होती है। ये दोनों पहलू अहिंसा के साथ भी जुड़े हैं। जो केवल निवृत्ति को ही प्रधान मानकर चलता है, वह अहिंसा की आत्मा को परख ही नहीं सकता। वह अहिंसा की सम्पूर्ण साधना नहीं कर सकता। जैन श्रमण के उत्तर गुणों में समिति और गुप्ति का विधान है। समिति की मर्यादाएँ प्रवृत्तिपरक हैं और गुप्ति की मर्यादाएँ निवृत्तिपरक हैं। इससे भी स्पष्ट है कि अहिंसा प्रवृत्तिमूलक भी है। प्रवृत्ति-निवृत्ति—दोनों अहिंसारूप सिक्के के दो पहलू हैं। एक दूसरे के अभाव में अहिंसा अपूर्ण है। यदि अहिंसा के इन दोनों पहलुओं को न समझ सके तो अहिंसा की वास्तविकता से हम बहुत दूर भटक जाएँगे। असद् आचरण से निवृत्त बनो और सद्आचरण में प्रवृत्ति करो, यही निवृत्ति और प्रवृत्ति को सुन्दर एवं पूर्ण विवेचना है।

अहिंसक प्रवृत्ति के बिना समाज का काम नहीं चल सकता, क्योंकि प्रवृत्तिशून्य अहिंसा समाज में जड़ता पैदा कर देती है। मानव एक शुद्ध सामाजिक प्राणी है। वह समाज में जन्म लेता है और समाज में ही रह कर अपना सांस्कृतिक विकास एवं अभ्युदय करता

---

१८. प्रश्न व्याकरण सूत्र (संवर द्वार)

(क) दया देहि-रक्षा —प्रश्नव्याकरण वृत्ति

है; उस उपकार के बदले में वह समाज को कुछ देता भी है। यदि कोई इस कर्त्तव्य की राह से विलग हो जाता है, तो वह एक प्रकार से उसकी असामाजिकता ही होगी। अतः प्रवृत्तिरूप धर्म के द्वारा समाज की सेवा करना--मानव का प्रथम कर्त्तव्य है, और इस कर्त्तव्य की पूर्ति में ही मानव का अपना तथा समाज का कल्याण निहित है।

बौद्ध धर्म में अहिंसा-भावना :

'आर्य' की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए बौद्ध धर्म ने अहिंसाप्रिय व्यक्ति को आर्य कहा है। तथागत बुद्ध ने कहा है—"प्राणियों की हिंसा करने से कोई आर्य नहीं कहलाता, बल्कि जो प्राणी की हिंसा नहीं करता, उसी को आर्य कहा जाता है[१९]। सब लोग दण्ड से डरते हैं, मृत्यु से भय खाते हैं। मानव दूसरों को अपनी तरह जानकर न तो किसी को मारे और न किसी को मारने की प्रेरणा करे।[२०] जो न स्वयं किसी का घात करता है, न दूसरों से करवाता है, न स्वयं किसी को जीतता है, न दूसरों से जीतवाता है, वह सर्वप्राणियों का मित्र होता है, उसका किसी के साथ वैर नहीं होता।[२१] जैसा मैं हूँ वैसे ये हैं, तथा जैसे ये हैं वैसा मैं हूं,—इस प्रकार आत्मसदृश मानकर न किसी का घात करे न कराए।[२२] सभी प्राणी सुख के चाहने वाले हैं, इनका जो दण्ड से घात नहीं करता है, वह सुख का अभिलाषी मानव अगले जन्म में सुख को प्राप्त करता है।[२३] इस प्रकार तथागत बुद्ध ने भी हिंसा का निषेध करके अहिंसा की प्रतिष्ठा की है।

---

१९. न तेन आरियो होति येन पाणानि हिंसति।
अहिंसा सब्बपाणान, आरियोति पवुच्चति॥ —धम्मपद १९।१५

२०. सब्बे तसन्ति दण्डस्स, सब्बेसं जीवितं पियं।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये॥ —धम्मपद १०।१

२१. यो न हन्ति न घातेति, न जिनाति न जापते।
मित्तं सो सब्ब भूतेसु वेरं तस्स न केनचीति॥ —इतिवुत्तक पृ० २०

२२. यथा अहं तथा एते, यथा एते तथा अहं।
अत्तानं उपमं कत्वा, न हनेय्य न घातये॥ —सुत्तनिपात, ३।३।७।२७

२३. सुखकामानि भूतानि, यो दण्डेन न विहिंसति।
अत्तनो सुखमेसानो पेच्चसो लभते सुखं॥ —उदान, पृ० १२

तथागत बुद्ध का जीवन 'महाकारुणिक जीवन' कहलाता है। दीन-दुखियों के प्रति उनके मन में अत्यन्त करुणा भरी थी, दया का सागर लहरा रहा था।

भगवान् महावीर की भाँति तथागत बुद्ध भी श्रमण-संस्कृति के एक महान् प्रतिनिधि थे। उन्होंने सामाजिक और राजनीतिक कारणों से होने वाली हिंसा की आग को प्रेम और शान्ति के जल से शान्त करने के सफल प्रयोग किये, और इस आस्था को सुदृढ़ बनाया कि समस्या का प्रतिकार सिर्फ तलवार ही नहीं, प्रेम और सद्भाव भी है। यही अहिंसा का मार्ग वस्तुतः शान्ति और समृद्धि का मार्ग है।

वैदिकधर्म में अहिंसा-भावना :

वैदिक धर्म भी यज्ञकाल से उत्तरोत्तर अहिंसा-प्रधान धर्म होता गया है। "अहिंसा परमो धर्मः" के अटल सिद्धान्त को सम्मुख रखकर इसमें भी अहिंसा की विवेचना की गई है। अहिंसा ही सबसे उत्तम एवं पावन धर्म है, अतः मनुष्य को कभी भी, कहीं भी और किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए।[२४] जो कार्य तुम्हें पसन्द नहीं है, उसे दूसरों के लिए कभी न करो।[२५] इस नश्वर जीवन में न तो किसी प्राणी की हिंसा करो और न किसी को पीड़ा पहुँचाओ। वलिक सभी आत्माओं के प्रति मैत्री-भावना स्थापित कर विचरण करते रहो। किसी के साथ वैर न करो।[२६] जैसे मानव को अपने प्राण प्यारे हैं, उसी प्रकार सभी प्राणियों को अपने-अपने प्राण प्यारे हैं। इसलिए जो लोग बुद्धिमान और पुण्यशाली हैं, उन्हें

---

२४. अहिंसा परमो धर्मः सर्वप्राणभृतांवरः।
तस्मात् प्राणभृतः सर्वान् न हिंस्यान्मानुषः क्वचित्॥
—महाभारत—आदिपर्व, १।१।१३

२५. आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्। —मनुस्मृति

२६. न हिंस्यात् सर्वभूतानि, मैत्रायणगतश्चरेत्।
नेदं जीवितमासाद्य वैरं कुर्वीत केनचित्॥
—महाभारत—शान्ति पर्व २७८।५

चाहिए कि वे सभी प्राणियों को अपने समान समझें।[२७] इस विश्व में अपने प्राणों से प्यारी दूसरी कोई वस्तु नहीं है। इसलिए मानव जैसे अपने ऊपर दयाभाव चाहता है, उसी प्रकार दूसरों पर भी दया करे।[२८] दयालु आत्मा ही सभी प्राणियों को अभयदान देता है, और उसे भी सभी अभयदान देते हैं।[२९] अहिंसा ही एकमात्र पूर्ण धर्म है। हिंसा, धर्म और तप का नाश करने वाली है।[३०] अतः यह स्पष्ट है कि वैदिक धर्म भी अहिंसा की महत्ता को एक स्वर से स्वीकार करता है।

इस्लामधर्म में अहिंसा-भावना :

इस्लाम धर्म की अट्टालिका भी अहिंसा की नींव पर टिकी हुई है। इस्लाम धर्म में कहा गया है—"खुदा सारी दुनिया (खल्क) का पिता (खालिक) है। विश्व में जितने प्राणी हैं, वे सब खुदा के पुत्र (बन्दे) हैं।" कुरानशरीफ की शुरूआत में ही अल्लाहताला खुदा' का विशेषण दिया है—"बिस्मिल्लाह रहिमानुर्रहीम"—इस प्रकार का मंगलाचरण देकर यह बताया गया है कि सब जीवों पर रहम करो।

मुहम्मद साहब के उत्तराधिकारी हजरत अली साहब ने कहा है—"हे मानव! तू पशु-पक्षियों की कब्र अपने पेट में मत बना" अर्थात् पशु-पक्षियों को मारकर उनको अपना भोजन मत बनाओ। इसी प्रकार 'दीन इलाही' के प्रवर्त्तक मुगलसम्राट् अकबर ने कहा

---

२७. प्राणा यथात्मनोऽभीष्टाः भूतानामपि वै तथा।
आत्मौपम्येन गन्तव्यं बुद्धिमद्भिर्महात्मभिः॥

—महाभारत–अनुशासनपर्व, ११५।१९

२८. नहि प्राणात् प्रियतरं लोके किञ्चन विद्यते।
तस्माद् दयां नरः कुर्यात् यथात्मनि तथा परे॥

—महाभारत–अनुशासनपर्व, ११६।८

२९. अभयं सर्वभूतेभ्यो यो ददाति दयापरः।
अभयं तस्य भूतानि ददतीत्यनुशुश्रुमः॥

—महाभारत–अनुशासनपर्व, ११६।१३

३०. अहिंसा सकलो धर्मः।

—महाभारत-शान्तिपर्व।

हैं—मैं अपने पेट को दूसरे जीवों का कब्रिस्तान बनाना नहीं चाहता। जिसने किसी की जान बचाई—उसने मानों सारे इन्सानों को जिन्दगी बख्शी।[३१]

उपर्युक्त उदाहरणों से यही प्रतिभासित होता है कि इस्लाम धर्म भी अमुक अंश में अपने साथ अहिंसा की दृष्टि को लेकर चला है।

ईसाईधर्म में अहिंसा-भावना :

महात्मा ईसा ने कहा है कि—"तू तलवार म्यान में रख ले, क्योंकि जो लोग तलवार चलाते हैं, वे सब तलवार से ही नाश किये जायेंगे।"[३२] अन्यत्र भी बतलाया है—तुम अपने दुश्मन को भी प्यार करो और जो तुम्हें सताते हैं, उनके लिए भी प्रार्थना करो। यदि तुम उन्हीं से प्रेम करो, जो तुमसे प्रेम करते हैं, तो तुमने कौन मार्के की बात की ?"[३३] इतना ही नहीं, वरन् अहिंसा का वह पैगाम तो काफी गहरी उड़ान भर बैठा है। —अपने शत्रु से प्रेम रखो, जो तुमसे वैर करें उनका भी भला सोचो और करो। जो तुम्हें शाप दें उन्हें आशीर्वाद दो। जो तुम्हारा अपमान करे, उसके लिए प्रार्थना करो। जो तुम्हारे एक गाल पर थप्पड़ मारे, उसकी तरफ दूसरा गाल भी कर दो। जो तुम्हारी चादर छीन ले, उसे अपना कुरता भी ले लेने दो।[३४] ईसा का यह संदेश अहिंसा का कितना बड़ा उदाहरण है !

यहूदीधर्म में अहिंसा-भावना :

यहूदी मत में कहा गया है कि—किसी आदमी के आत्म-सम्मान को चोट नहीं पहुँचानी चाहिए। लोगों के सामने किसी आदमी को अपमानित करना उतना ही बड़ा पाप है, जितना उसका खून कर देना।[३५]

---

३१. व मन् अहया हा फकअन्नया अह्यन्नास जमीअनः।
—कुरानशरीफ ५।३५

३२. मत्ती। —२५।१।५२

३३. मत्ती —५।४५।४६

३४. लूका —६।२७।३७

३५. ता० बाबा मेतलिया —मेतलिया—५८ (ब)।

यदि तुम्हारा शत्रु तुम्हें मारने को आए और वह भूखा-प्यासा तुम्हारे घर पहुँचे, तो उसे खाना दो, पानी दो।[३६]

यदि कोई आदमी संकट में है, डूब रहा है, उस पर दस्यु-डाकू या हिंसक शेर-चीते आदि हमला कर रहे हैं, तो हमारा कर्त्तव्य है कि हम उसकी रक्षा करें। प्राणिमात्र के प्रति निर्वैरभाव रखने की प्रेरणा प्रदान करते हुए यह बतलाया गया है कि—अपने मन में किसी के भी प्रति वैर का दुर्भाव मत रखो।[३७]

पारसी और ताओ धर्म में अहिंसा-भावना :

पारसी धर्म के महान प्रवर्त्तक महात्मा जरथ्रुस्ट ने कहा है कि—"जो सबसे अच्छे प्रकार की जिन्दगी गुजारने से लोगों को रोकते हैं, अटकाते हैं और पशुओं को मारने की सिफारिश करते हैं, उनको अहुरमज्द बुरा समझते हैं।[३८] अतः अपने मन में किसी से बदला लेने की भावना मत रखो। बदले की भावना तुम्हें लगातार सताती रहेगी! अतः दुश्मन से भी बदला मत लो। बदले की भावना से प्रेरित होकर कभी कोई पापकर्म मत करो। मन में सदा-सर्वदा सुन्दर विचारों के दीपक सँजोए रखो।

ताओ धर्म के महान् प्रणेता—लाओत्से ने अहिंसात्मक विचारों को अभिव्यक्त करते हुए कहा है कि—जो लोग मेरे प्रति अच्छा व्यवहार नहीं करते, उनके प्रति भी मैं अच्छा व्यवहार करता हूँ।"[३९]

कनफ्यूशस धर्म के प्रवर्त्तक कांगफ्यूत्सी ने कहा है कि—"तुम्हें जो चीज नापसन्द है, वह दूसरे के लिए हर्गिज मत करो।"

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि श्रमण संस्कृति के मूल संस्थापक भगवान् ऋषभदेव ने अहिंसा का जो बीज बोया तथा अन्तिम तीर्थंकर भ० महावीर ने जिसे पल्लवित, पुष्पित एवं फलित किया, उसे विश्व के समस्त धर्मों ने अपने धर्म का अन्तर्हृदय के रूप में अंगीकार किया। अतः श्रमण संस्कृति की अमर देन—अहिंसा वह महान् शक्ति है, जो विश्व के समस्त धर्मों को पारस्परिक ऐक्य सूत्र में संबद्ध करने में सहज समर्थ है। यह विश्व के समस्त धर्मों को श्रमणसंस्कृति की महान् देन है—**उपाध्याय अमरमुनि**

---

३६. नीति, —२५।२१ परमिदास
३७. तोरा —लैव्य व्यवस्था १६।१७
३८. गाथा —हा० ३४, ३
३९. लाओ तेह किंग।

९

भारतीयदर्शन की सार्वभौम चिंतनदृष्टि :

अनेकान्तवाद

वैदिक काल से लेकर महात्मा गाँधी के समय तक दृष्टि दौड़ा जाइए, भारतीय संस्कृति की जो एक विशेषता हमेशा उसके साथ मिलेगी, वह इसकी अहिंसाप्रियता है। वस्तुतः संस्कृतियों के बीच सात्विक समन्वय का काम अहिंसा के बिना चल ही नहीं सकता। तलवार से हम मनुष्य को पराजित कर सकते हैं, उसे जीत नहीं सकते। मनुष्य को जीतना, असल में उसके हृदय पर अधिकार पाना है और हृदय की राह समरभूमि की लाल कीच नहीं, सहिष्णुता का शीतल प्रदेश है, उदारता का उज्ज्वल क्षीरसमुद्र है। अनादि काल से भारत अहिंसा की साधना में लीन रहा है। यह साधना कभी-कभी आत्मघातिनी भी सिद्ध हुई है, किन्तु भारत तब भी अपने परम धर्म से नहीं डिगा। भारतीय अहिंसा का अर्थ केवल रक्तपात से ही बचना नहीं, वरन् उन सभी बातों से बचना रहा है, जिनसे किसी को भी क्लेश पहुँचता हो। रक्तपात यदि आत्मरक्षा के लिए किया जाए तो भारतीय संस्कृति उसे हिंसा नहीं मानती। ऐसे ही रक्तपात की उपेक्षा करने का उपदेश स्वयं भगवान् कृष्ण ने दिया है। किन्तु समस्त भारतीय साहित्य में कहीं भी वह पाप क्षम्य नहीं बताया गया, जो कटु वचन कह कर दूसरों को कष्ट पहुँचाने से होता है। जो वाणी में तर्क ही नहीं, आँखों में अंगारे भरकर शास्त्रार्थ करने से होता है, संक्षेप में जो उस मनुष्य का पाप है, जिसको विश्वास है कि मैं जो कहता हूँ वह ठीक है, बाकी सब गलत।

भारत की अहिंसा-साधना जैन धर्म में अपने परम उत्कर्ष पर पहुँची और जैन धर्म में भी अहिंसा का उच्चतम शिखर अनेकान्तवाद

या स्याद्‌वाद हुआ। कितने बड़े थे वे लोग–जिन्हें यह दिखलाई पड़ा कि केवल रक्तपात करना, कटुवचन कहना अथवा दूसरों का अनिष्ट सोचना ही हिंसा नहीं, प्रत्युत जब हम यह आग्रह कर बैठते हैं कि जो कुछ हम कर रहे हैं, वही सत्य है, तब भी हम हिंसा ही करते हैं। इसलिए अनेकान्तवादियों ने यह धर्म निकाला कि सत्य के पहलू अनेक हैं। जिसे जो पहलू दिखाई देता है, वह उस पहलू की बात कहता है और जो पहलू दूसरों को दिखाई देते हैं, उनकी बातें दूसरे लोग कहते हैं। इसलिए यह कहना हिंसा है कि "केवल यही ठीक है।" सच्चा अहिंसक मनुष्य इतना ही कह सकता है कि "शायद यह ठीक हो।" क्योंकि सत्य के सभी पक्ष सभी मनुष्यों को एकसाथ दिखाई नहीं देते।

'अनेकान्तवाद' नाम यद्यपि जैनों का दिया हुआ है, किन्तु जिस दृष्टिकोण की ओर यह सिद्धान्त इंगित करता है, वह दृष्टिकोण भारत में आरम्भ से ही विद्यमान था। यदि यह विद्यमान नहीं रहता, तो भारत में इतनी विभिन्न जातियाँ एक मानवता के अंग बनकर एकता की छाया में शान्ति से नहीं जीतीं। तब शायद भारत का भी वही हाल होता जो यूरोप का रहा है। भारत और यूरोप (रूस को छोड़कर) आकार में बहुत कुछ समान हैं और दोनों ही महादेशों में भाषा एवं जातिगत भिन्नताएँ भी बहुत हैं, फिर भी भारत में ये भिन्नताएँ एक समाधान पर आ गयी हैं, मानो अनेक नदियों ने एक ही समुद्र में अपना विलय खोज लिया हो। किन्तु यूरोप के वित्ते भर-भर के देश परस्पर मारकाट और भयानक रक्तपात मचाते रहते हैं। क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है? और तो और, राष्ट्रीयता का जो भाव भारत की एकता में दृढ़ता लाने का कारण हुआ, ठीक उसी के कारण यूरोप के देश परस्पर और भी दूर हो गये। अहिंसाप्रियता के कारण जो तत्त्व भारत में अमृत बरसाता है, हिंसाप्रियता के कारण यूरोप में वही जहर बन गया है।

वर्तमान विश्व की कठिनाई यह नहीं है कि उसके कई देशों ने अणु और उद्‌जन बम निकाल रखे हैं, बल्कि यह कि वे देश जब आपस में विचारविनिमय करने के लिए बैठते हैं, तब उनकी वाणी में तर्क हो

या न हो, किन्तु आँखों में गुस्से की मशाल अवश्य होती है। संसार अपनी जलती हुई देह को क्षीरोदक से शीतल करने को बेचैन है, किन्तु तन को शीतल करने से पहले उसे मन को शीतल करना चाहिए और मन की शीतलता की राह दुराग्रह के त्याग में है, दूसरों को झुँझलाने की क्रूरता से बचने में है, सत्य की राह पर आने में है, सत्य की राह पर आये विना यह नहीं मिल सकती। और, सत्य की राह पर आये हुए आदमी की सबसे बड़ी पहचान यह है कि वह किसी भी अवस्था में दुराग्रह या हठ नहीं करता।

सहिष्णुता, उदारता, सामाजिक संस्कृति, अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और अहिंसा—ये एक ही सत्य के अलग-अलग नाम हैं। असल में यह भारतवर्ष की सबसे बड़ी विलक्षणता का नाम है, जिसके अधीन यह देश एक हुआ है और जिसे अपनाकर सारा संसार एक हो सकता है। अनेकान्तवाद वह है, जो दुराग्रह नहीं करता। अनेकान्तवाद वह है, जो दूसरों के मतों को भी आदर से देखना और समझना चाहता है। अनेकान्तवाद वह है, जो समझौते को अपमान की वस्तु नहीं मानता। अशोक और हर्षवर्द्धन अनेकान्तवादी थे, जिन्होंने एक धर्म में दीक्षित होते हुए भी सभी धर्मों की सेवा की। अकबर अनेकान्तवादी था, क्योंकि सत्य के सारे रूप उसे किसी एक धर्म से दिखाई नहीं दिए, अतः सम्पूर्ण सत्य की खोज में वह आजीवन सभी धर्मों को टटोलता रहा। परमहंस रामकृष्ण अनेकान्तवादी थे, क्योंकि हिन्दू होते हुए भी उन्होंने इस्लाम और ईसाइयत की साधना की थी और गाँधीजी का तो सारा जीवन ही अनेकान्तवाद का उन्मुक्त अध्याय था।

भारत में अहिंसा के सबसे बड़े प्रयोक्ता जैन मुनि हुए हैं, जिन्होंने मनुष्य को केवल वाणी और कार्य से ही नहीं, प्रत्युत विचारों से भी अहिंसक बनाने का प्रयत्न किया। किसी भी बात पर यह मान कर अड़ जाना कि यही सत्य है तथा बाकी लोग जो कुछ कहते हैं, वह सबका सब झूठ और निराधार है, विचारों की सबसे भयानक हिंसा है। मनुष्य को इस हिंसा के पाप से बचाने के लिए ही जैन मुनियों ने अनेकान्तवाद का सिद्धान्त निकाला, जिसके अनुसार प्रत्येक सत्य के अनेक पक्ष माने गये हैं, तथा यह सही भी है कि हम जब जिस पक्ष

को देखते हैं, तब हमें वही एक पक्ष सत्य जान पड़ता है। अनेकान्त-वादी दर्शन की उपादेयता यह है कि वह मनुष्य को दुराग्रही होने से बचाता है। उसे यह शिक्षा देता है कि केवल तुम्हीं ठीक हो, ऐसी बात नहीं है, शायद वे लोग भी सत्य ही कह रहे हों जो तुम्हारा विरोध करते हैं। भाषा की दृष्टि से अनेकान्तवादी मनुष्य स्याद्‌वादी है, क्योंकि वह यह नहीं कहता कि "यही सत्य है", सदैव यह कहना चाहता है कि "शायद यह सत्य हो।"[1] भारतीय साधकों की अहिंसा-भावना स्याद्‌वाद में अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँची, क्योंकि यह दर्शन मनुष्य के भीतर बौद्धिक अहिंसा को प्रतिष्ठित करता है। संसार में जो अनेक मतवाद फैले हुए हैं, उनके भीतर सामंजस्य को जन्म देता है तथा वैचारिक भूमि पर जो कोलाहल और कटुता उत्पन्न होती है, उससे विचारकों के मस्तिष्क को मुक्त रखता है।

अनेकान्तवाद जैन दर्शन में सोया हुआ था। भारतवासी जैसे अपने दर्शन की अन्य बातें भूल चुके थे, वैसे ही अनेकान्तवाद का यह दुर्लभ सिद्धान्त भी उनकी आँखों से ओझल हो गया था। किन्तु नवोत्थान के क्रम में जैसे हमारे अनेक अन्य प्राचीन सत्यों ने दुबारा जन्म लिया, वैसे ही गाँधीजी में आकर अनेकान्तवाद ने भी नव-जीवन प्राप्त किया। सम्पूर्ण सत्ता क्या है, इसे जानना बड़ा ही कठिन है। तात्त्विक दृष्टि से यही कहा जा सकता है कि प्रत्येक सत्यान्वेषी सत्य के जिस पक्ष के दर्शन करता है, वह उसी की बातें बोलता है। इसीलिए सत्य के मार्ग पर आये हुए व्यक्ति की सबसे बड़ी पहचान यह होती है कि वह दुराग्रही नहीं होता, न वह यही हठ करता है कि मैं जो कुछ कह रहा हूँ वही सत्य है। अपने ऊपर एक प्रकार का विरल संदेह, विरोधी और प्रतिपक्षी का मत ही ठीक हो, ये अनेकान्तवादी मनुष्य के प्रमुख लक्षण हैं। गाँधीजी पर ये सभी लक्षण घटित होते हैं, क्योंकि उनकी अहिंसा कायिक और वाचिक होने के साथ बौद्धिक भी थी और इसी बौद्धिक अहिंसा ने उन्हें समझौतावादी एवं विरोधियों के प्रति श्रद्धालु बना दिया था। जब

---

१. अनेकान्त संशयवाद नहीं है, अपितु सत्य की एक निष्पक्ष निर्णायक दृष्टि है।

—सं०

गाँधीजी "भारत छोड़ो" आन्दोलन की योजना वना रहे थे, तब सुप्रसिद्ध अमरीकी पत्रकार श्री लुई फिशर ने उनसे पूछा कि "आपके इस कार्य से युद्ध में वाधा पड़ेगी और अमरीकी जनता को आपका यह आन्दोलन पसन्द नहीं आएगा। आश्चर्य नहीं कि लोग आपको मित्रराष्ट्रों का शत्रु समझने लगें।" गाँधीजी यह सुनते ही घवरा उठे। उन्होंने कहा, "फिशर, तुम अपने राष्ट्रपति से कहो कि वे मुझे आन्दोलन छेड़ने से रोक दें। मैं तो मुख्यत: समझौतावादी मनुष्य हूँ, क्योंकि मुझे कभी भी यह नहीं लगता कि मैं ठीक राह पर हूँ।"

चूँकि अनेकान्तवाद से परस्पर-विरोधी बातों के वीच सामंजस्य आता है तथा विरोधियों के प्रति भी आदर की वृद्धि होती है, इस लिए, गाँधीजी को यह वात अत्यन्त प्रिय थी। उन्होंने लिखा है, "मेरा अनुभव है कि अपनी दृष्टि से मैं सदा सत्य ही होता हूँ, किन्तु मेरे ईमानदार आलोचक तब भी मुझमें गलती देखते हैं। पहले मैं अपने को ही सही और उन्हें अज्ञानी मान लेता था, किन्तु अब मैं मानता हूँ कि अपनी-अपनी जगह हम दोनों ठीक हैं, कई अंधों ने हाथी को अलग-अलग टटोल कर उसका जो वर्णन किया था, वह दृष्टान्त अनेकान्तवाद का सबसे अच्छा उदाहरण है। इसी सिद्धान्त ने मुझे यह बतलाया है कि मुसलमान की जाँच मुस्लिम दृष्टिकोण से तथा ईसाई की परीक्षा ईसाई दृष्टिकोण से की जानी चाहिए। पहले मैं मानता था कि मेरे विरोधी अज्ञान में हैं। आज मैं विरोधियों की दृष्टि से भी देख सकता हूँ। मेरा अनेकान्तवाद सत्य, और अहिंसा—इन युगल सिद्धान्तों का ही परिणाम है।"

सत्य के किसी एक पक्ष पर अड़ जाना तथा वाद-विवाद में आँखें लाल करके वोलने लगना, ये लक्षण छोटे लोगों के ही होते हैं, जो कदाचित् सत्य की राह पर अभी आए ही नहीं हैं। सत्य के मार्ग पर आया हुआ मनुष्य हठी नहीं होता, वल्कि स्याद्‌वादी होता है। जबतक विश्व के विचारक और शासक स्याद्‌वादी भाषा का प्रयोग नहीं सीखते, तबतक न तो संसार के धर्मों में एकता होगी, न विश्व के विचार और मतवादी ही एक हो पाएँगे।

—श्री रामधारीसिंह 'दिनकर'

७

जैन संस्कृति का मूलाधार : त्यागधर्म

आत्मा अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र और शक्ति से सम्पन्न होते हुए भी अनादिकाल से चतुर्गतिरूप संसार में परिभ्रमण कर रही है। इसका प्रधान कारण है—आत्मविस्मृति, आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप, गुण या स्वभाव को भूल कर पर-भावों में रची-पची रहती है, इसी से कर्मबन्ध होता है, और उसके परिणाम-स्वरूप संसार में भटकती है, इसलिए आवश्यकता है—आत्माभिमुखता की। परमुखता, पराश्रयिता, पराधीनता ही दुःख है, स्वाश्रयिता, स्वाधीनता एवं-स्वभाव में रमणता ही सुख है।

पौद्गलिक पदार्थों या वस्तुओं को अपना मानकर, या उनमें सुख की कल्पना करके यह आत्मा निरंतर उनके संग्रह, संरक्षण की अभिवृद्धि में लगी हुई है। उनके विनाश या अनुपस्थिति में दुःख का अनुभव करती है। अर्थात् पर-पदार्थों को अपना मान लिया है और उनके प्रति ममत्वभाव ही दुःखों का मूल कारण है। और समत्व ही शान्ति और आनन्द का मार्ग है। महापुरुषों ने अपने अंतर्-विवेक और साधना से इस परम कल्याणकारी तत्त्व को जाना, अनुभव किया और आत्मबन्धु रूप समस्त प्राणियों को इस कल्याण-मार्ग को बतला कर इस ओर अग्रसर किया। जिन-जिन प्राणियों ने महापुरुषों के उपदेशों से लाभ उठाया, उनका कल्याण हुआ, शांति और आनंद प्राप्त हुआ और अंत में मोक्ष भी।

तीर्थंकरों ने कहा है कि संग्रह, भोग, और ममत्व ही दुःख के कारण हैं, और त्याग तथा आत्म-रमणता ही सुख का कारण है। पर-पदार्थों के ममत्व के कारण ही जीव अपना स्वरूप भूलकर निरंतर संग्रह एवं भोग में प्रवृत्तमान है। उसे त्याग का नाम ही नहीं सुहाता।

महापुरुष जब उसे साधु या श्रावकों के व्रत ग्रहण करने का उपदेश देते हैं, तो वह उसे बहुत दुष्कर और कष्टसाध्य मानते हुए व्रतों के स्वीकार या ग्रहण के लिए तैयार नहीं होता, क्योंकि अनादिकाल से उसके ऐसे दृढ़ संकल्प जम गए हैं कि उपभोगों में सुख है, त्याग में दु:ख है। यही मिथ्यात्व है जो वस्तु के सच्चे या वास्तविक स्वरूप की प्रतीति नहीं करने देता। सम्यग्दर्शन से बहिर्मुखता फिरती है और अंतर्मुखता प्राप्त होती है।

आध्यात्मिक ग्रन्थों में आत्मा के तीन भेद किए हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। शुद्ध स्वरूप पूर्णरूप से प्रकट हो जाना ही परमात्मपद है। सम्यग्दृष्टि ही अन्तरात्मा है, और मिथ्यादृष्टि ही बहिरात्मा है। शरीर आदि पौद्गलिक पदार्थों को अपना मानना, उनमें सुख मानना, भोगोपभोगों में आसक्त रहना ही बहिरात्मा के लक्षण हैं। सम्यग्दृष्टि यद्यपि कर्मोदय के कारण पर-पदार्थों का त्याग नहीं कर सकता, पर उनमें मूर्च्छा या आसक्तिभाव कम करता है या छोड़ता है। उसके आगे जब वह देश विरति बनता है तो सीमित त्याग-भावना को पनपाता है और सर्वविरति बनने पर त्याग मार्ग में पूर्ण रूप से अग्रसर हो जाता है।

जब पर-पदार्थ अपने हैं ही नहीं, ऐसी दृढ़ प्रतीति हो जाती है, तब त्याग में कठिनता नहीं लगती, भोगों में आकर्षण नहीं रहता। विरक्ति या वैराग्यभाव बढ़ता जाता है। आवश्यकताओं को सीमित करते हुए पर-पदार्थों के त्याग में वह निरंतर प्रगतिशील रहता है। ऐसी आत्माओं को चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, राजा, इन्द्र आदि सभी बड़े-बड़े अधिकारी सदा बड़े आदरभाव से नमन-वंदन करके अपने को धन्य व कृत्य-पुण्य मानते हैं। भोग पर त्याग की यह महान् विजय, त्याग की महत्ता को भलीभाँति प्रकट कर देता है। दीन, रंक, बालक, या स्त्री कोई भी हो, जब वह संसार के विषय-वासना या पर-पदार्थों की मूर्च्छा आसक्ति को छोड़ कर त्यागी बन जाता है, तो वह सबके लिए आदरणीय और पूज्य माना जाता है।

त्यागी का सुख इतना अधिक बतलाया गया है कि उसके सामने चक्रवर्ती और इन्द्र के सुख नि:सार और तुच्छ हैं। एक त्यागी मुनि के आत्मिक आनन्द के सामने वे कौड़ी की कीमत भी नहीं रखते। त्याग में

जो मस्ती है, वह भोग में मिल ही नहीं सकती, क्योंकि भोग पराश्रित है और त्याग स्वाश्रित है। भोग के साथ रोग या दुःख लगा हुआ है। अतिमात्रा में भोग करने से रोग हो जाता है। शारीरिक, मानसिक क्षति होती है, और अन्त में भोगों के प्रति अरुचि हो जाती है।

भोग के साधन जुटाने में भी बड़ा परिश्रम करना पड़ता है। उसके संरक्षण की चिन्ता बनी रहती है और नष्ट हो जाने पर अभाव या वियोगजन्य दुःख का अनुभव तो सभी करते ही हैं। भोग के साथ उपाधि, आधि और व्याधि—तीनों लगे रहते हैं। इसलिए विषय-भोगों को ज्ञानी पुरुषों ने त्यागा। उनको सारे साधन और सुविधाएँ प्राप्त थीं—तीर्थंकर राजाओं के यहाँ जन्म लेते हैं, उनके लिए भोगों के सभी साधन सुलभ होते हैं, पर वे उन्हें छोड़कर त्यागमार्ग स्वीकार करते हैं।

भारतीय-परम्परा में मानव-जीवन को चार आश्रमों में विभक्त किया गया है—ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थाश्रम तथा संन्यासाश्रम। १०० वर्षों की आयु मानकर प्रथम २५ वर्ष में विद्याध्ययन तथा शारीरिक एवं मानसिक विकास में लगाने का विधान है। फिर धनोपार्जन, विवाह और कुटुम्ब आदि पालनरूप गृहस्थाश्रम में रहकर अन्त में भोगों से निवृत्त होकर त्यागमय और सेवामय जीवन अपनाया जाता है। वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम क्रमशः त्याग की बढ़ती हुई भूमिका है। समस्त वस्तुओं का ही नहीं, इच्छाओं, आकांक्षाओं, वासनाओं का त्याग करके जब मनुष्य आत्मनिष्ठ हो जाता है, तभी साधनामय जीवन बिताते हुए सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

भारतीय धर्मों में तपस्या को बहुत महत्त्व दिया गया है। तप का अर्थ है—इच्छाओं का निरोध कर अपनी समस्त शक्ति को साधना में लगा देना, तपा देना। तप दो प्रकार का होता है—बाह्य और आभ्यंतर। बाह्य तप में चारों प्रकार के आहारों का सीमित या दीर्घकालीन त्याग या आंशिक अथवा पूर्णतया त्याग होता है। वह इसलिए किया जाता है कि बिखरी हुई सारी शक्तियों को साधना में केन्द्रित किया जा सके। खाने-पीने के साधन जुटाने और तत्सम्बन्धी क्रियाओं के करने में जो श्रम, समय और शक्ति लग रही है, वह आध्यात्मिक साधना में लगाई जा सके, तो साधना में गति, स्फूर्ति एवं शक्ति बढ़ेगी।

दान भी त्याग का-ही एक रूप है। हमारे पास जो भी धन-सम्पत्ति, शक्ति, ज्ञान तथा जीवनोपयोगी साधन हैं, उनका उपयोग केवल अपने तक ही सीमित न रखकर, जिनको जिन वस्तुओं की आवश्यकता है, उनको उन्हें दे देना ही दान है। हम धनादि से अपने ममत्व का त्याग करते हैं, तभी दूसरों को उन्हें देने रूप दान किया जा सकता है। पर-पदार्थ अपने हैं ही नहीं तो, उन पर ममत्व रखना, यह तो अवश्य ही एक बड़ी भूल है, जिसे जीव आत्मविस्मृति के कारण निरन्तर करता जा रहा है।

जब मनुष्य साधना में लीन हो जाता है, तो त्याग करना नहीं पड़ता, स्वयं हो जाता है। पर-पदार्थों के संग्रह, संरक्षण एवं भोग में उसकी रुचि नहीं रहती, यह त्याग को स्वाभाविक प्रक्रिया है। जब तक गहरी आसक्ति है, तब तक प्रयत्न पूर्वक त्याग करना पड़ता है। बाहर दिखाने को त्याग कर दिया, पर भोगों के प्रति आकर्षण बना रहा, तो वह त्याग सच्चा त्याग नहीं है। जब आत्मा अपने स्वभाव में रमण करने लगती है, तब देहादि किसी भी पर-पदार्थ का उसे ध्यान नहीं रहता। उनका त्याग अपने आप हो जाता है। मोक्ष क्या है—कर्म बन्धनों से छूट जाना ही मोक्ष है। और कर्म-बन्धन के कारण हैं राग-द्वेष, विषय और कषाय। इन सबों का त्याग ही वास्तव में मोक्ष है। इनके त्याग के बिना मोक्ष मिल ही नहीं सकता।

मनुष्य जन्म लेता है, तो शरीर के अतिरिक्त और कोई भी चीज साथ में नहीं लाता। और जब परलोक जाता है, तब भी कोई चीज साथ नहीं ले जाता। बीच की अवस्था में वह धन, परिवार आदि पर-पदार्थों को अपना मानकर उन पर ममत्वभाव कर लेता है, तो उसे त्याग करने में बड़ी कठिनाई मालूम देती है। अंतिम समय तक वह धन-कुटुम्ब आदि का त्याग करना नहीं चाहता है, पर विवश होकर उनको त्यागना पड़ता है। इससे उसे बहुत दुःख होता है। ज्ञानी पुरुष पर-पदार्थों को अपना मानते ही नहीं हैं, इसलिए उन्हें उनके त्याग में कोई दुःख नहीं होता। पर मुनिगण उसको त्याग देते हैं, तभी आत्मानन्द का वे अनुभव कर पाते हैं।

सद्गुणों के विकास के लिए अवगुणों का त्याग बहुत ही जरूरी

है। यदि पापों को छोड़ेंगे नहीं, तो धर्म में लग नहीं सकते, इसलिए दुर्व्यसनों व दुर्गुणों का त्याग करते ही रहना चाहिए। जिन्होंने त्याग किया, वे महापुरुष बने; और जिन्होंने राग किया, वे संसार में परिभ्रमण करते रहे। जो भोगों में आसक्त रहे, वे पाप बन्धन करते रहे। आरंभ-समारंभ द्वारा नित्य नये कर्मों का बन्ध होता रहता है। सबसे बड़ा त्याग रागभाव को छोड़ना है। राग छूट गया तो द्वेष भी छूट जाएगा, और वीतराग बन जाएँगे। मनुष्य का अहम् ही परमात्म पद प्राप्ति में सबसे बड़ा बाधक है। इसलिए यदि परमात्मा बनना है, तो राग भाव व अहम्भाव को त्याग दें।

धर्म के दस प्रकारों में 'त्याग धर्म' एक महान् धर्म है। वैसे सभी मनुष्यों को कुछ न कुछ, किसी न किसी प्रकार का त्याग करना ही पड़ता है, पर अनिच्छा से व विवश होकर किया हुआ त्याग वास्तव में त्याग नहीं है। प्राप्त भोगों को इच्छापूर्वक छोड़ देना ही सच्चा त्याग है। त्यागी महापुरुषों का आदर्श सामने रखते हुए हमें भी अपने जीवन में अधिकाधिक त्याग करते रहना चाहिए। इसी त्याग-धर्म को भगवान् महावीर ने अपरिग्रह के पावन नाम से मर्यादित किया है। परिग्रह सभी प्रकार की हिंसाओं का मूल है, और अपरिग्रह अहिंसा की आदि जननी है।

जैन धर्म निवृत्तिप्रधान धर्म है, त्याग ही इसका सारतत्त्व है। जितने अंश में त्याग बढ़ता है, आत्मा विशुद्ध बनती जाती है, स्वरूप में रमण करने लगती है, यही मोक्ष मार्ग है। इसीलिए जैन संस्कृति का मूलाधार त्याग कहा गया है।★

—अगरचंद नाहटा

८
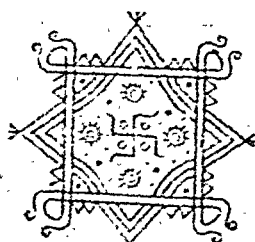
श्रमण संस्कृति के महान् उद्भावक

श्रमण भगवान् महावीर

ईसा पूर्व छठी शताब्दी में भारत का पूर्वांचल क्रांतिकारी मोड़ से गुजर रहा था। सामाजिक व धार्मिक जगत् में क्रांति के स्वर गूंज रहे थे। मगध का वायुमंडल क्रांति के आघोष से प्रतिध्वनित हो रहा था। इस क्रांति के नव सर्जक थे राजकुमार वर्धमान ! श्रमण भगवान् महावीर !

राजकुमार वर्धमान से श्रमण भगवान् महावीर तक की यह यात्रा—एक महान् धार्मिक जागरण की यात्रा है, एक अभूतपूर्व अहिंसाप्रधान शीत-क्रांति की कहानी है।

मगध जनपद के वैशाली—क्षत्रिय कुंड के अधिशासक थे ज्ञातृवंशीय राजा सिद्धार्थ क्षत्रिय ! राजा सिद्धार्थ की रानी त्रिशला ने एक अपूर्व तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। जन्म की वह तिथि थी ई० पू० ५९९, चैत्र शुक्ला १३। वैशाली (प्राचीन विशाला नगरी) उस देवगुण-सम्पन्न पुत्ररत्न को प्राप्त कर एक अलौकिक आलोक से चमत्कृत हो उठी। राजा सिद्धार्थ एवं रानी त्रिशला के आनंद का कहना ही क्या ! माता-पिता ने पुत्र को परिवार एवं राज्य की सुख-समृद्धि की अभिवृद्धि का प्रतीक मानकर वर्धमान नाम रखा। सिद्धार्थ के बड़े पुत्र का नाम नंदीवर्धन था, वर्धमान छोटे थे, अतः लाड़ले पुत्र थे। लिच्छवि गणतंत्र के गणराजा महाराज चेटक वर्धमान के मामा थे।

ऐतिहासिक मान्यता के अनुसार मगध आदि पूर्व भारत के क्षत्रिय—'व्रात्य क्षत्रिय' कहलाते थे। क्षत्रिय वंश की यह परम्परा शौर्य एवं तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में समान प्रभुत्व रखती थी। महाराज

जनक, अश्वपति कैकेय, जैवालिक आदि तत्त्वज्ञानी क्षत्रिय वड़े-वड़े ऋषियों एवं ब्राह्मण कुमारों को भी अध्यात्मविद्या का उपदेश करते रहे थे। पूर्व भारत के क्षत्रिय अपेक्षाकृत उदार, प्रगतिशील एवं आध्यात्मिक विचारों के थे, वे याज्ञिक हिंसा के विरोधी थे। समाज में ब्राह्मण एवं पुरोहित वर्ग का सामाजिक व धार्मिक प्रभुत्व होने के कारण यज्ञ, देवपूजन, पशुवलि, दास व शूद्र से घृणा तथा नारी को धार्मिक व शैक्षणिक क्षेत्र से दूर रखना आदि प्रवृत्तियाँ भी प्रवल थीं। फिर भी यह माना जा सकता है--तीर्थंकर पार्श्वनाथ की धार्मिक क्रांति के बाद मगध के क्षत्रियों में काफी परिवर्तन आ चुके थे। उनमें एक सामाजिक चेतना के साथ आध्यात्मिक जागरण भी हो रहा था। अनेक क्षत्रिय पार्श्वनाथ की श्रमण परंपरा में दीक्षित हो चुके थे। महाराज चेटक तथा सिद्धार्थ आदि प्रमुख क्षत्रिय पार्श्वनाथ के पक्के अनुयायी—"उवासग"—थे। काशी के क्षत्रिय राजकुमार पार्श्वनाथ की धर्म क्रांति की कहानियाँ अब भी क्षत्रिय माताएँ अपने राजकुमारों को सुनाया करती थीं। माता-पिताओं के निर्मल जीवन एवं वाणी के द्वारा उज्ज्वल संस्कार क्षत्रिय कुमारों में बाल्यकाल से ही उभरने लगते थे। इन्हीं संस्कारों का प्रादुर्भाव राजकुमार वर्धमान में भी दिखलाई पड़ने लगा। और इसी प्रकार के कुछ महान् संस्कार कपिलवस्तु के राजकुमार सिद्धार्थ (गौतम) में अंकुरित होने की चर्चा भी उस समय इधर-उधर फैल चुकी थी। इस प्रकार पूर्व भारत के क्षत्रियों में यज्ञविरोधी आध्यात्मिक जागरण की एक लहर उठ रही थी।

साहस : जीवन का मूल गुण :

जीवन एक युद्ध है, और उसमें विजयी वनने के लिए साहस एक अमोघ अस्त्र है। दुर्बल और भीरु मानस कभी भी प्रगति के द्वार नहीं छू सकता। जीवन की उन्नति, प्रगति और उच्चतम विकास के लिए साहस मूल आधार है।

राजकुमार वधमान में वचपन से ही दृढ़ साहस की अद्भुत स्फुरणा जगती हुई प्रतीत होती है। भय की कल्पना शायद उनके मानस में कभी नहीं उठी। वह सदा अभय और साहसी वालक के रूप में अपने साथियों में सबसे आगे रहे।

एकवार कुमार वर्धमान अपने हमउम्र साथियों के साथ खेल रहे थे। अचानक वृक्षों के झुरमुट में से एक भयंकर नाग फुंकारता हुआ दिखलाई पड़ा। सभी साथी डरकर इधर-उधर भागने लगे। वर्धमान ने ललकारा—"क्या हुआ ? भाग क्यों रहे हो ?"

"साँप है····साँप····" बालकों ने दवी आवाज में कहा। "है तो क्या····वह अपने रास्ते जा रहा है, तुम अपना काम करो ! तुम उसे तकलीफ नहीं दोगे, तो वह तुम्हें व्यर्थ ही क्यों काटेगा ?"—कुमार वर्धमान ने सांत्वना दी।

तव तक फुंकारता हुआ नाग वर्धमान के काफी पास में आ चुका था, साथी दूर-दूर भाग गए। पर साहसी कुमार वर्धमान न डरा, न भागा। उसने बड़ी स्फूर्ति के साथ नाग को पकड़ा और एक रस्सी को तरह घुमाकर दूर फेंक दिया।

वर्धमान के साहस पर सभी साथी चकित थे। परिवार के बड़ों को जब यह वात मालूम हुई तो वे हर्षमिश्रित आश्चर्य के साथ वर्धमान को—'वीर' कहकर पुकार उठे। तब वर्धमान लगभग सात आठ वर्ष के होंगे।

पौराणिक उक्ति के अनुसार कोई देवता नाग का रूप धारण कर वर्धमान के साहस की परीक्षा करने आया था। और वर्धमान को परीक्षा में शतप्रतिशत उत्तीर्ण पाया, तो प्रसन्न होकर चला गया। कुछ भी हो, तथ्य यह है कि कुमार वर्धमान को इसका कोई अता-पता नहीं था, उनकी कल्पना में तो वह मात्र एक दुष्ट नाग ही था और वर्धमान ने उसे निर्भीकतापूर्वक उठाकर फेंक दिया।[१]

गरीबों का मसीहा :

वर्धमान महावीर के मानस में साहस के साथ करुणा का निर्मल स्रोत भी इस प्रकार वह रहा था—जैसे कि कठोर चट्टानों के नीचे स्वच्छ शीतल जल-प्रवाह ! प्राणिमात्र के प्रति उनका हृदय मैत्री एवं करुणा की धारा से आप्लावित था। और खासकर गरीबों एवं असहायों के प्रति तो करुणा की अनेक घटनाएँ उनके जीवन में घटित हुई। बचपन से ही उनका मानस संवेदनशील और अनुभूतिप्रधान

१. महावीर चरियं (नेमिचन्द्र), ७८०

था। वे किसी की पीड़ा को देखकर सहसा द्रवित हो उठते थे। उनके जीवन में ऐसे अनेक प्रसंग आए होंगे जब किसी पीड़ित एवं दरिद्र को देखकर अपनी उपभोग सामग्री खुले हाथों लुटा दी होगी। जैन ग्रन्थों का यह प्रसंग तो सर्वसम्मत है कि वे प्रव्रजित होने से पूर्व एक वर्ष तक निरंतर गरीबों को दान देते रहे। भोग-सामग्रियों के प्रति विरक्ति ने उन्हें गरीब, असहाय जनता के लिए अपना सर्वस्व समर्पण कर देने की ओर सर्वाधिक प्रेरित किया।

तीस वर्ष की युवावस्था में वर्धमान ने जीवन का नया मार्ग चुना। संसार के भोग-विलास और वैभव को ठुकरा कर वे साधना के कठोर मार्ग पर चल पड़े। उनकी साधना अपने आपके प्रति जितनी कठोर थी; जगत् के प्रति उतनी ही कोमल करुणामयी थी !

शिशिर ऋतु के प्रारंभ में वे प्रव्रजित हुए थे। क्षत्रिय कुण्ड के निकट ही एक सघन वन में वृक्ष के नीचे समाधि लगाए ध्यान-मुद्रा में खड़े थे। तभी एक दीन ब्राह्मण पता लगाता-लगाता श्रमण महावीर के चरणों में पहुँच गया। वह पीढ़ियों का दरिद्र था। घर में खाने को दो जून आटा भी ठीक तरह नहीं जुटा पाता था। वह रोटी-रोजी की तलाश में वहुत दूर-दूर भटकता रहा। पर भाग्य का मारा वैसे ही भूखा नंगा घर लौटा। घर आने पर उसने जैसे ही सुना कि कुमार वर्धमान ने वर्ष भर तक दान देकर प्रव्रज्या ग्रहण की है कि वस वह अपने भाग्य को कोसता, पछताता महावीर के चरण चिह्नों का पता लेता हुआ वन में पहुँच गया। महाश्रमण के चरणों में गिरकर वह गिड़गिड़ाया, रोया, इतनी दीनता दिखाने लगा कि समाधिस्थ महावीर का हृदय द्रवित हो उठा।

ब्राह्मण की दीन-हीन दशा देखकर महाश्रमण का मन पिघल गया, पर अव उनके पास था क्या जो उसे दें ! वे स्वयं अकिंचन तपस्वी थे। अकिंचन के समक्ष याचना ! वड़ी विषम स्थिति थी ! पर वह दीन यदि खाली हाथ लौटा तो उसका कलेजा टूक-टूक हो जाएगा ! अस्तु महाश्रमण महावीर ने प्रव्रज्या काल में गृहीत अपने देवदूष्य के दो खण्ड करते हुए कहा—"विप्र ! निराश न लौटो। यह देवदूष्य का अर्ध खण्ड तुम ले जाओ—"**गिण्हसु इमस्स देवदूसस्स अद्धंति।**"

एक दरिद्र असहाय के प्रति महाश्रमण का यह अगाध मानवीय प्रेम उनके अन्तर की महामानवता का एक छोटा-सा, किंतु उज्ज्वल चित्र है।

प्रेम का देवता :

श्रमण महावीर के हृदय में गरीबों के लिए जितनी करुणा और कोमलता थी, दुष्ट एवं क्रूर आत्माओं के प्रति भी असीम प्रेम एवं अपार स्नेह था। वे क्रूरता और द्वेष को मानसिक रोग मानते थे और इसका उपचार करते थे सात्विक स्नेह एवं सहज सौजन्य से।

जहाँ भी जो भी सबसे क्रूर और दुष्ट व्यक्ति होता—श्रमण महावीर उसके निकट जाकर क्रूरता का सात्विक प्रतिकार करते और प्रेम के ब्रह्मास्त्र से उसे जीत लेते। एकबार महावीर ने सुना कि एक यक्ष बड़ा क्रूर और दुष्ट स्वभाव का है, मनुष्यमात्र के प्रति उसके मन में भयंकर घृणा है। उसने हजारों मनुष्यों को मार-मार कर हड्डियों के ढेर लगा दिए हैं। वह सदैव हाथ में एक भयंकर शूल रखता है, देखते ही मनुष्य को उस शूल में पिरो लेता है। श्रमण महावीर एक रात उसी शूलपाणि यक्ष के मंदिर में जाकर ध्यानस्थ हो गए।

क्रूर यक्ष ने अपने मंदिर में भिक्षु को खड़ा देखा तो उसने भयंकर अट्टहास करके मंदिर की दिवारों को कँपा दिया; किन्तु महाश्रमण की ध्यान-साधना प्रकंपित नहीं हुई। अब तो उसने क्रुद्ध होकर भीषण उपद्रव करने शुरू किए। यक्ष के अनेकानेक भीषण उपद्रवों से भी जब महाश्रमण की ध्यान-मुद्रा विचलित न हुई, तो वह क्रूर यक्ष स्वयं भयभीत हो उठा—"कहीं यह तपस्वी साधक क्रुद्ध होकर मुझे समाप्त न कर डाले!" क्रूरता हारकर जब भय में परिणत हुई तो महाश्रमण ने प्रेम से आश्वस्त किया! यक्ष को अभयदान देते हुए कहा—"शूलपाणि! तुमने अपने को नहीं पहचाना! तुम्हारे मन की घृणा और क्रूरता एक निम्न प्रकार की कायरता की ही परिणति है। देखो न, तुम्हारा पौरुष हारकर भय में बदल जाता है, क्रूरता ग्लानि में बदल जाती है। अभय और शांति चाहते हो तो प्रेम करो! मनुष्य के प्रति घृणा नहीं, स्नेह के फूल बरसाओ!"

जैन पुराणों के अनुसार वह शूलपाणि यक्ष महावीर का परमभक्त उपासक बन गया। आस-पास के उजड़ते हुए गाँव फिर बसने लग गए। सर्वत्र निर्भयता और दिव्य शांति छा गई। यह था प्रेम का चमत्कार, जिसने घृणा और क्रूरता को सद्भावना में बदल दिया!

विष के बदले अमृत ! आग के बदले जल :

श्रमण महावीर साधना-काल में कहीं किसी एकान्त वन्य प्रदेश में आश्रम बाँध कर नहीं बैठे। उनकी साधना परिव्राजक की, भ्रमणशील भिक्षु की साधना थी। उन्होंने अनेक बार ध्यान साधना के लिए ऐसे स्थल चुने, जहाँ पर साधारण मनुष्य पहुँच नहीं पाता था, पहुँच जाता तो जीवित नहीं रह पाता था। महावीर ने घूम-घूम कर उन भयपूर्ण स्थानों को अभय का रूप दिया। उन क्रूर एवं दुष्ट व्यक्तियों का जीवन बदला और जनता के लिए अभय का मंगल मार्ग प्रशस्त किया।

एकबार वे कनखल (दुइज्जन्तक आश्रम) से श्वेताम्बिका की ओर जा रहे थे। मार्ग में एक सुनसान वियावान जंगल पड़ता था। इस जंगल में एक भयंकर दृष्टि-विष नाग रहता था, जिसके दृष्टि-मात्र से दूर-दूर तक के हरे-नीले वृक्ष भी जल कर ठूँठ हो गए थे। महावीर उसी नाग के बिल के पास जाकर समाधि लगाकर खड़े हो गए। क्रुद्ध नाग ने बलपूर्वक दंश मारा, पर समाधिस्थ महावीर के तन पर उसका कोई असर नहीं हुआ। नाग काट-काट कर हार गया, पर समाधि और शांति के समक्ष उसके घोर विष का कोई प्रभाव नहीं हुआ। अपनी अभूतपूर्व पराजय पर विचार करते-करते महानाग चंडकौशिक की अन्तश्चेतना जागृत हो गई, उसे अपने क्रोध पर भयंकर पश्चात्ताप हुआ। निरंतर विष उगलकर हरे-भरे वन प्रदेश को सुनसान जंगल बना देने की बात सोच-सोच कर वह अपने आप पर क्षुब्ध होने लगा। नाग की बदली हुई मनःस्थिति को देखकर महावीर ने मधुर स्वर में पुकारा—"उवसमह भो! चण्डकोसिया! चण्डकौशिक नाग! अब शांत हो जाओ! क्षमा करो! यह जीवन विष उगलने के लिए नहीं, अमृत बरसाने के लिए है।"

नाग को क्षमा और शांति का अमृत मिला, उसने विष उगलना छोड़ दिया। और वह वन प्रदेश फिर हरा-भरा आबाद हो उठा।

श्रमण महावीर की साधना का यह चमत्कार था कि वे भय को अभय में बदल देते, विष को अमृत बना देते। और आग बरसाने वालों को शीतल जल बना देते। उनका साधक जीवन देहली पर रखे दीपक की तरह उभयमुखी था। वे स्वयं के आत्मोत्कर्ष के लिए सदा जागरूक रहते और साथ ही विश्व के भय एवं संकटों को शांत करते जाते। उनकी लोकोपकारी वृत्ति कभी-कभी इतनी प्रबल हो उठती थी कि आज कुछ लोग जिन आचारसूत्रों को विधि-निषेध की गणना में लेते हैं, महावीर की सहज मानवता उन्हें भी लांघ गई थी।

गोशालक, जो महावीर की दिव्य विभूतियों से प्रभावित होकर उनके पीछे-पीछे चलने लगा था, वह उन्हें अपना गुरु भी मानने लगा था। पर, वह कुछ उच्छृंखल और अल्हड़ प्रकृति का था। उसकी विवेकहीनता एवं उच्छृंखलता के कारण श्रमण महावीर को अनेक अकल्पित कष्ट भी उठाने पड़े, पर श्रमण महावीर ने कभी भी गोशालक को दुत्कारा नहीं, उसकी मूर्खता पर रोष नहीं किया।

एकबार गोशालक ने अपनी आदत के अनुसार किसी तपस्वी से छेड़छाड़ की। तपस्वी काफी शांत रहा, पर अन्त में जब गोशालक छेड़छाड़ से बाज नहीं आया तो वह क्रुद्ध हो उठा। क्रुद्ध तपस्वी ने गोशालक को भस्म करने के लिए 'तेजोलेश्या'—एक प्रकार की यौगिक दाहक शक्ति–का प्रयोग किया। गौशालक चीखता-चिल्लाता श्रमण महावीर के चरणों में आ गिरा—बचाइए! बचाइए!!

श्रमण महावीर ने धुँए के गुब्बारे-सी उमड़कर गौशालक का पीछा करती हुई तेजो लेश्या को आते देखा तो एक सहज करुणा से उनका मन भर आया। यद्यपि गोशालक एक कुशिष्य की तरह महावीर को हमेशा सताता रहा, पर कारुणिक महावीर उसके सब अपराधों को जैसे भूले हुए थे। तुरन्त अपनी योग लब्धि से 'शीतल लेश्या' का प्रयोग किया। तपस्वी की क्रोधाग्नि शांत हो गई और मंखलिपुत्र गोशालक बच गया।

श्रमण महावीर के दीर्घ तपस्वी काल में इस प्रकार के कितने ही प्रसंग आए होंगे जब उनके साहस, धैर्य तथा मनोबल की कठोर परीक्षाएँ

हुई। असीम करुणा और मानवीय स्नेह के अजस्र स्रोत ने कितने ही पतित, अधम एवं दुष्ट जीवों का उद्धार किया, उनकी रक्षा की।

स्वयं स्वयं के निर्माता :

साधना-काल में उन्होंने जितने कष्टों एवं पीड़ाओं का सामना किया, उतना शायद किसी अन्य अर्हत्-तीर्थंकर ने अपने जीवन में नहीं किया। देहातों एव जंगलों में अज्ञान ग्वालों, चरवाहों और जंगलवासियों ने उन्हें कितनी ही वार बुरी तरह पीटा, अनेक यंत्रणाएं दीं, कठोर ताड़नाएं दीं।

एकवार ध्यानस्थ महावीर से किसी ग्वाले ने कहा—"वावा! मेरे वैलों की देखभाल रखना, मैं जरा गाँव में जाकर आता हूँ।" महावीर ध्यानस्थ थे, वैल चरते-चरते कहीं दूर निकल गये। ग्वाला लौट कर आया, और वैल दिखाई नहीं दिए तो महावीर को ही चोर समझ कर ताड़ना करने लगा। उसने रस्सी के निर्मम प्रहारों से इतने जोर से ताड़ना दी कि रस्सियों के दाग उसकी हथेलियों में भी गुद गए।

इस घटना के वाद देवराज इन्द्र ने श्रमण महावीर से प्रार्थना की—"देवार्य! ये अज्ञान मनुष्य आपके अलौकिक माहात्म्य को नहीं समझकर आपको ताड़ना-तर्जना दे रहे हैं। कृपया मुझे आज्ञा दीजिए कि मैं सतत आपकी सेवा में रह कर इन आगत कष्टों का निवारण करता रहूँ।"

महाश्रमण ने देवराज को जो उत्तर दिया, वह जैन साहित्य का अद्वितीय सुभाषित होगया है, दुर्वल निराश जनजीवन के लिए चिर-काल से एक महान् प्रेरणादायी सूक्त वन गया है—"स्ववीर्येणैव गच्छन्ति जिनेन्द्रा परमां गतिम्।"—"किसी अन्य के आश्रय एवं पुरुषार्थ के भरोसे कोई भी आत्मा आज तक वोधिलाभ-केवल ज्ञान प्राप्त नहीं कर सका। अपने ही पुरुषार्थ पर अपना निर्माण किया जा सकता है।"

यह है महावीर के पुरुषार्थ एवं स्वालम्वन का उत्कृष्ट आदर्श!

सेवा, समता, साहस, करुणा, स्नेह, स्वावलंवन, आत्मनिष्ठा और अखण्ड मनोवल ये ही वे दिव्य सीढ़ियाँ हैं जिन पर वढ़ती हुई

एक सामान्य आत्मा, परमात्म पद की असीम ऊँचाई तक पहुँची। महावीर का अतीत एवं वर्तमान साधक-जीवन इस आध्यात्मिक उत्क्रान्ति का एक सुन्दर सजीव चित्र है। श्रमण महावीर का जीवन इसी आध्यात्मिक विकासवाद से गुजरता हुआ एकदिन परम विकसित, परम विशुद्ध अर्हत् पद पर प्रतिष्ठित हुआ!

ई० पू० ५६६ के वैशाख शुक्ला दशमी के दिन की घटना जैन इतिहास में महावीर के कैवल्य-कल्याणक नाम से प्रसिद्ध है। ऋजु बालुका नदी का शांत सुरम्य तट! श्यामक किसान का खेत और उसमें शाल वृक्ष के नीचे श्रमण महावीर ध्यान-साधना में लीन! महाश्रमण की तल्लीनता, निर्मलता और भावविशुद्धि अपनी अंतिम बिन्दु पर पहुँच रही थी। वे पूर्ण समाधिस्थ हुए शांत रस में निमग्न हो रहे थे कि बाह्य जगत् में सूर्य के ढलते-ढलते, महावीर के अन्तर्जगत् में दिव्य ज्ञान का सूर्य अनंत प्रकाश पुंज लिए उदित हो गया। श्रमण महावीर सर्वज्ञ बन गए। साधना के बीहड़ पथ से गुजरती हुई एक आत्मा सिद्धि के द्वार तक पहुँच गई। साधक सिद्ध दशा को प्राप्त हो गया। आत्मा परमात्मा के रूप में प्रतिष्ठित हो गई।

\+ \+ \+

महाश्रमण महावीर का तीर्थंकर जीवन वस्तुतः धर्म, समाज एवं राजनीति के परिष्कार का काल है। उन्होंने गम्भीर आध्यात्मिक समस्या से लेकर पति-पत्नी के जीवन की सामान्य समस्या तक को स्पर्श किया, साधक-जीवन की उलझनों के साथ ही राजनीतिक जगत् की उलझनें और तनावों तक के समाधान की दिशा में उन्होंने मार्ग दर्शन दिया। उनके अंदर एक विराट् सामाजिक चेतना थी, जो समाज के किसी भी अंग को सड़ा-गला नहीं देख सकती थी। इस प्रकार की अनेक घटनाएँ तीर्थंकर महावीर के जीवन में घटी होंगी जिनका सामाजिक एवं राजनीतिक दृष्टि से बहुत महत्त्व होता, किंतु वे घटनाएँ घटना रूप में नहीं, सिर्फ उपदेशरूप में ही हमारे पास आज बची हुई हैं, इसलिए महावीर की सामाजिक व राजनीतिक समत्व दृष्टि का समग्र मूल्यांकन करना होगा। हाँ कुछ छुटपुट प्रसंग और वचन ऐसे जरूर हैं जिनके आधार पर एक प्रतिबिम्ब खड़ा किया जा सकता है।

पारिवारिक जीवन : विश्वास एवं प्रेम :

मगध सम्राट् श्रेणिक तीर्थंकर महावीर के अत्यन्त श्रद्धाशील उपासक थे। एकबार किसी भ्रमवश सम्राट् को अपनी महारानी चेलना के चरित्र पर संदेह हो गया। दाम्पत्य जीवन में एक-दूसरे के चरित्र पर अविश्वास एवं संदेह सबसे अधिक खतरनाक होता है। सम्राट् को इतना भयंकर क्रोध आया कि महामात्य अभय को आदेश दिया—"चेलना के महलों को तुरन्त जला डालो।"

सम्राट् का मन खिन्नता, ग्लानि एवं क्रोध से कुलबुला रहा था। वे शांति और समाधान पाने के लिए तीर्थंकर महावीर की सभा में पहुँचे। तीर्थंकर ने देखा—सम्राट् आज महान् अकृत्य कर रहा है, एक पतिव्रता साध्वी को कलंकित कर रहा है, केवल एक तुच्छ भ्रम के कारण! यदि समाधान न मिला तो संभव है सम्राट् का मन नारी जाति के प्रति घृणा का तूफान खड़ा करे और उससे क्या-क्या न अघटित घटित हो जाए!

महाश्रमण ने श्रेणिक की अविश्वासग्रन्थि को झकझोरा—"सम्राट्! तुम जिस महारानी चेलना पर अविश्वास कर रहे हो, वह महान् पतिव्रता है, सती है, तुम्हारा संदेह निर्मूल है।" और महाश्रमण ने जब संदेह के भ्रान्त कारणों की व्याख्या की तो सम्राट् की आँखें खुल गईं। वह पश्चात्ताप से रो पड़ा और तुरन्त राजमहलों की ओर दौड़ा! एक भयंकर अनर्थ होते-होते बच गया।

तीर्थंकर महावीर का एक प्रमुख उपासक था—'महाशतक'! उसकी पत्नी बड़ी कर्कशा और कठोर स्वभाव की थी। एकबार पत्नी के दुर्व्यवहार से क्षुब्ध होकर महाशतक ने उसकी कठोर भर्त्सना करते हुए कहा—"तेरी बड़ी दुर्दशा होगी, तू मर कर नरक में जाएगी, और भयंकर यातनाएँ सहेगी।"

धर्मात्मा पति की आक्रोशभरी वाणी को उसने शाप समझा और वह जोर-जोर से सिर पीट कर रोने लगी—"हाय! मुझे पति ने शाप दे दिया, अब मेरी क्या दुर्दशा होगी!"

तीर्थंकर महावीर ने पति-पत्नी के कलह को जाना तो त्वरित अपने प्रिय शिष्य गौतम को भेजा—"गौतम, जाओ! उपासक

महाशतक से कहो कि "एक धार्मिक और सच्चरित्र श्रावक को इस प्रकार कटुवाणी नहीं बोलनी चाहिए। वह तो आखिर उसकी पत्नी है, किन्तु किसी को भी ऐसा आक्रोश वचन नहीं कहना चाहिए !"

गणधर गौतम के समझाने पर महाशतक ने अपनी भूल के लिए क्षमा याचना की !

यह था महावीर का विश्वास और प्रेम का मंत्र, जो केवल साधक के लिए ही नहीं, अपितु प्रत्येक सामाजिक के लिए आवश्यक था। जो साधक घर, परिवार और समाज में विश्वास तथा प्रेम पैदा न कर सके, तो क्या उसका विश्वास एवं प्रेम केवल जंगल की साधना के लिए है ? महावीर का उपदेश था—'जहाँ भी रहो, परस्पर विश्वास लेकर रहो, प्रेम पूर्वक रहो। न किसी के चरित्र पर लांछन लगाओ।[२] न किसी के मर्म पर चोट करो[३] और न कभी किसी को कष्ट एवं त्रास देने वाली बात मुँह से निकालो।"[४]

राजनीतिक उलझन : सद्भाव की अपेक्षा :

पारिवारिक जीवन की भाँति राजनीतिक जीवन की भी अनेक उलझनें महावीर के समक्ष आई हैं, और उनका सद्भावमूलक समाधान भी महावीर ने किया है। यह तात्कालिक घटनाओं से समझ में आ सकता है।

मगध, विदेह, वैशाली, चेदि, वत्स, कलिंग, उज्जयिनी और सिंधु सौवीर तक के राजवंश महावीर के श्रद्धालु ही नहीं, वल्कि परम भक्त थे। उनका धार्मिक जीवन ही नहीं, अपितु राजनीतिक जीवन भी महावीर के प्रभाव से अछूता नहीं रहा। महावीर ने कई बार बड़े-बड़े युद्धों को टाल दिया, एक-दूसरे राज्यों के पारस्परिक मनमुटाव एवं विद्वेष को प्रेम में वदल दिया, और उन्हें दुश्मन की जगह मित्र बना दिया।

---

२. दशवैकालिक १०।१८
३. सूत्र कृतांग १।९।२५
४. दशवैकालिक १०।१०

एक बार की घटना है। कौशाम्बीपति महाराज शतानीक की मृत्यु के बाद राजकुमार उदायन बालक था, इसलिए शासन सूत्र का संचालन स्वयं महारानी मृगावती कर रही थी। महारानी मृगावती राजनीति में ही दक्ष नहीं, अत्यन्त धार्मिक भी थी, और अपने युग की अद्वितीय सुन्दरी भी। उज्जयिनीपति चन्द्रप्रद्योत सत्ता और सुन्दरी को पाने के लिए भूखे भेड़िये की तरह चारों ओर लपक रहा था। अपने युग का वह पराक्रमी किंतु चरित्रहीन सम्राट् गिना जाता था। चन्द्रप्रद्योत ने एक तीर से दो शिकार का यह अवसर देखा—सत्ता भी हाथ लगेगी, और युगसुन्दरी मृगावती भी। उसने कौशाम्बी पर आक्रमण करदिया, नगरी को चारों ओर से घेर लिया।

वत्स देशवासियों के लिए यह सिर्फ राजसत्ता का प्रश्न ही नहीं रहा, अपितु अपने देश की नारी की इज्जत का प्रश्न भी बन गया। कुलीन रमणियाँ इस आक्रमण की अन्तर्निहित भावना से भयभीत थीं, और वीर योद्धा हथेली पर जान रखकर इसका जवाब दे रहे थे। नर-रक्त से भूमि रंगी जा रही थी, पर कोई भी निर्णायक उत्तर नहीं मिल रहा था।

तीर्थंकर महावीर ने जब यह भीषण नर-संहार और उसके भीतर रहस्य की तरह छिपी एक नारी के सतीत्व पर आक्रमण की दुर्दान्त लालसा को देखा, तो वे उग्र विहार करके कौशाम्बी की ओर बढ़ गए।

कौशाम्बी के द्वार बन्द थे। शत्रु सेना घेरा डाले चारों ओर पड़ी थी। नगर का परिसर युद्धभूमि बना हुआ था। तीर्थंकर महावीर युद्धभूमि की परवाह किए बिना कौशाम्बी के उद्यान में आकर ठहर गए। महारानी मृगावती को जब तीर्थंकर के आगमन की सूचना मिली तो उसने अपूर्व साहस करके नगर के द्वार खुलवा दिए और स्वयं तीर्थंकर की धर्म देशना सुनने गई। आक्रांता चन्द्र-प्रद्योत भी उस धर्म देशना में आया। तीर्थंकर महावीर ने चन्द्रप्रद्योत को लक्ष्य करके कुछ इस तरह उपदेश किया कि उसके अन्तःकरण का कालुष्य धुलने लगा। वह अपने औद्धत्य और अविवेक पर मन-ही-मन लज्जित हो उठा और तभी अवसर पाकर महारानी

ने तीर्थंकर की साक्षी से चन्द्रप्रद्योत को अपना भाई वना लिया और राजकुमार उदायन के भाग्य की डोर उसी के हाथों में सौंप दी। यह एक चमत्कार था, जवकि शत्रु भाई बन गया, आक्रामक ने ही संरक्षण का दायित्व उठा लिया। तव से वत्स और अवन्ती में मैत्री सम्बन्ध स्थापित हो गए।

यह है महावीर का राजनीति एवं युद्धनीति में भी प्रेम का प्रयोग !

प्रेम का चमत्कार : दुष्ट भी साधु बन गए :

श्रमण भगवान् महावीर ने विश्वास के आधार पर विश्व को बदला, प्रेम और सद्भाव के वल पर संसार को जीता। अर्जुन माली जैसे हत्यारे को जव लोगों ने महावीर की धर्म सभा में उपस्थित हुआ देखा, और यह देखा कि वह महावीर का शिष्य बन रहा है—तो किसी को भी अपनी आँखों पर विश्वास नहीं हुआ। पर महावीर मनुष्य की श्रेष्ठता में विश्वास करते थे, मानव हृदय की पवित्रता को वे समझते थे। अर्जुन को प्रव्रजित करके उन्होने जनता की समस्त आशंकाओं को निर्मूल कर दिया और इस विश्वास को झकझोर दिया कि पतित कभी पावन नहीं बन सकता। अर्जुन की क्षमासाधना, सहिष्णुता और शांति देखकर हजारों-हजार लोग मानने लगे कि तीर्थंकर महावीर की वाणी में वह अपूर्व चमत्कार है, जो पतितों को पावन एवं दुष्टों को साधु बना देती है।

मगध के प्रचंड और दुर्दांत तस्कर रौहिणेय को जव महावीर का शिष्य वना सुना तो शायद महावीर का परमभक्त सम्राट् श्रेणिक भी चकित रह गया होगा कि यह क्या बात है ! जिस दस्युराज को पकड़ने में मगध साम्राज्य की समस्त शक्तियाँ असफल हो गईं, वह दस्युराज तीर्थंकर के समक्ष आकर सहज भाव से आत्म समर्पण कर देता है, और जीवन भर चोरी करके लूटी हुई विशाल सम्पत्ति जनता को वापिस लौटा कर साधु बन जाता है।

ये घटनाएँ इस बात को स्पष्ट कर देती हैं कि तीर्थंकर महावीर के अन्तर् में प्रेम और सद्भाव का कोई ऐसा अक्षय स्रोत था, जो क्रूर एवं दुष्ट हृदयों की शुष्कभूमि को भी सद्भाव एवं सहानुभूति के अमृतरस से परिप्लावित कर देता था।

तीर्थंकर महावीर के जीवन के उपर्युक्त भव्य प्रसंगों से उनके विराट् एवं सार्वदेशीय व्यक्तित्व का एक प्रतिविम्ब हमारे सामने उभर आता है कि युग की गति को उन्होंने एक नया मोड़ दिया, नया चिंतन दिया और उस चिंतन को अपने जीवन में साकार करके जन-जन की आस्था को वहाँ केन्द्रित किया।

उनके जीवन के हजारों-हजार प्रसंग इस बात के साक्षी हैं कि उनका जीवन क्षमा का जीवन था। इस क्षमा के आधार पर ही उनके तत्त्वदर्शन का महाप्रासाद खड़ा था। उनका पहला उद्घोष था—मानवजीवन की श्रेष्ठता एवं पवित्रता में विश्वास, और फिर तदनुकूल आचरण। इसी विश्वास को मूल मानकर उन्होंने जातिवाद का विरोध किया, याज्ञिक हिंसा को रोका, नारी एवं शूद्र को धर्म का अधिकार दिया और राष्ट्रीय जीवन से लेकर व्यक्तिगत जीवन तक में प्रेम, विश्वास और सद्भाव की अखण्ड ज्योति प्रज्वलित करने का प्रयत्न किया।

महावीर एक महामानव का समग्र रूप थे। उनकी प्रत्येक बात में मानवीय सद्गुणों का परम विकसित आदर्श था, आध्यात्मिक विकास की चरम निष्पत्ति थी और कुल मिलाकर आत्मा से परमात्मा बनने का एक सच्चा विकासवादी जीवन दर्शन था। अपने बहत्तर वर्ष के जीवनकाल में, और अतीत के अनेक जन्मों की स्मृति के प्रतिखण्ड में उन्होंने मानव में यही विश्वास पैदा किया कि मानव महान् है, सर्वसत्ता-सम्पन्न है, वह अपना विकास अपने आप कर सकता है। जीवन के परिपार्श्वों पर जो वैचारिक कुंठाएँ, अन्धविश्वासों की परतें और अज्ञान की काली जंग जम रही है, उसे हटादे, तोड़ डाले तो मानव महामानव बन सकता है, आत्मा परमात्मा बन सकता है। जन जिन बन सकता है, तीर्थंकर और अर्हत् बन सकता है।

—उपाध्याय अमरमुनि

*

९

भ. महावीर और बुद्ध के पारिपार्श्विक भिक्षु-भिक्षुणियाँ

किसी भी महापुरुष की जीवन-कथा में कुछ पात्र अवश्य ऐसे होते हैं, जो उस जीवन-कथा के साथ सदा के लिए अमर रहते हैं। महावीर और बुद्ध की जीवन-चर्या में ऐसे पात्रों का योग और भी बहुलता से मिलता है।

महावीर के साथ ग्यारह गणधरों के नाम अमर हैं। ये सब भिक्षु संघों के नायक थे। इन्होंने ही द्वादशांगी का आकलन किया।

गौतम :

गौतम उन सबमें प्रथम थे और महावीर के साथ अनन्य रूप से संयुक्त थे। ये गूढ़-से-गूढ़ और सहज-से-सहज प्रश्न महावीर से पूछते ही रहा करते थे। उनके प्रश्नों पर ही विशालतम आगम 'विवाह-पण्णत्ति' (भगवती सूत्र) गठित हुआ है। ये अपने लब्धिबल से भी बहुत प्रसिद्ध रहे हैं।

गौतम का महावीर के प्रति असीम स्नेह था। महावीर के निर्वाण-प्रसंग पर तो वह तट तोड़कर ही बहने लगा। उन्होंने महावीर की निर्मोह वृत्ति पर उलाहनों का अम्बार खड़ा कर दिया, पर अन्त में सँभले। उनकी वीतरागता को पहचाना और अपनी सरागता को। पर-भाव से स्व-भाव में आये। अज्ञान का आवरण हटा। कैवल्य पा स्वयं अर्हत् हो गये।

एकबार कैवल्य-प्राप्ति न होने के कारण गौतम को अपने पर बहुत ग्लानि हुई। उनके उस अनुताप को मिटाने के लिए महावीर ने कहा था—"गौतम! तू बहुत समय से मेरी प्रशंसा करता आ रहा है। तेरा मेरे साथ चिरकाल से परिचय है। तूने चिरकाल से मेरी

सेवा की है। मेरा अनुसरण किया है। कार्यों में प्रवर्तित हुआ है। पूर्ववर्ती देव-भव तथा मनुष्य-भव में भी तेरा मेरे साथ सम्बन्ध रहा है, और क्या, मृत्यु के पश्चात् भी—इन शरीरों के नाश हो जाने पर दोनों समान, एक प्रयोजन वाले तथा भेद-रहित (सिद्ध) होंगे।[1]

उक्त उद्‌गारों से स्पष्ट होता है, महावीर के साथ गौतम का कैसा अभिन्न सम्बन्ध था।

चन्दनबाला :

चन्दनबाला महावीर के भिक्षुणी-संघ में अग्रगी थी। पद से वह 'प्रवर्तिनी' कहलाती थी। वह राज-कन्या थी। उसका समग्र जीवन उतार-चढ़ाव के चलचित्रों में भरा-पूरा था। दासी का जीवन भी उसने जीया। लौह-शृंखलाओं में भी वह आबद्ध रही, पर उसके जीवन का अन्तिम अध्याय एक महान् भिक्षुणी-संघ की संचालिका के गौरवपूर्ण पद पर बीता।

स्थानांग—समवायांग[2] के अनुसार महावीर के भिक्षु-संघ में सातसौ[3] भिक्षुओं ने कैवल्य (सर्वज्ञत्व) पाया, तेरहसौ भिक्षुओं ने अवधि-ज्ञान प्राप्त किया, पाँचसौ मनःपर्यवज्ञानी हुए, तीनसौ चतुर्दश-पूर्व-धर हुए तथा इनके अतिरिक्त अनेकानेक भिक्षु-भिक्षुणियाँ लब्धिधर, तपस्वी, वाद-कुशल आदि हुए।

महावीर कभी-कभी भिक्षु-भिक्षुणियों की विशेषताओं का नाम-ग्राह उल्लेख भी किया करते थे।

---

१. समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं आमंतेत्ता एवं वयासी—'चिर-संसिट्ठोऽसि मे गोयमा ! चिरसंथुओऽसि मे गोयमा ! चिरपरिचिओऽसि मे गोयमा ! चिरजुसिओऽसि मे गोयमा ! चिराणुगओऽसि मे गोयमा ! चिराणुवत्तोऽसि मे गोयमा ! अणंतरं देवलोए अणंतरं माणुस्सए भवे, किं परं ? मरणा कायस्स भेदा, इओ चुत्ता दो वि तुल्ला एगट्ठा अविसेसमणाणत्ता भविस्सामो।

—भगवती सूत्र, श० १४, उ० ७

२. स्थानांग सूत्र २३०; समवायांग, सम० ११०।

३. कल्पसूत्र (सू० १४८) के अनुसार ७०० भिक्षु व १४०० भिक्षुणियों ने सिद्ध गति प्राप्त की।

त्रिपिटक साहित्य में बुद्ध के पारिपार्श्विक भिक्षुओं का भी पर्याप्त विवरण मिल जाता है। सारिपुत्र, मौद्गल्यायन, आनन्द, उपालि, महाकाश्यप, आज्ञाकौण्डिन्य आदि भिक्षु बुद्ध के अग्रगण्य शिष्य थे। जैन-परम्परा में गणधरों का एक गौरवपूर्ण पद है और उनका व्यवस्थित दायित्व होता है। बौद्ध परम्परा में गणधर जैसा कोई सुनिश्चित पद नहीं है, पर सारिपुत्र आदि का बौद्ध-भिक्षु-संघ में गणधरों जैसा ही गौरव व दायित्व था।

सारिपुत्र :

गणधर गौतम की तरह सारिपुत्र भी बुद्ध के अनन्य सहचरों में थे। वे बहुत सूझ-बूझ के धनी, विद्वान् और व्याख्याता थे। बुद्ध इन पर बहुत भरोसा रखते थे। एक प्रसंग-विशेष पर बुद्ध ने इनको कहा था—"सारिपुत्र ! तुम जिस दिशा में जाते हो, उतना ही आलोक करते हो, जितना कि बुद्ध।"[४]

सारिपुत्र की सूझ-बूझ का एक अनूठा उदाहरण त्रिपिटक साहित्य में मिलता है। बुद्ध का विरोधी शिष्य देवदत्त जब ५०० वज्जी भिक्षुओं को साथ लेकर भिक्षु-संघ से पृथक् हो जाता है, तो मुख्यतः सारिपुत्र ही अपने बुद्धि-कौशल से उन पाँचसौ भिक्षुओं को देवदत्त के चुंगल से निकाल कर बुद्ध की शरण में लाते हैं।[५]

एकबार बुद्ध ने आनंद से पूछा—"तुम्हें सारिपुत्र सुहाता है न ?" आनन्द ने कहा—"भन्ते ! मूर्ख, दुष्ट और विक्षिप्त मनुष्य को छोड़कर ऐसा कौन मनुष्य होगा, जिसे आयुष्मान् सारिपुत्र न सुहाते हों। आयुष्मान् सारिपुत्र महाज्ञानी हैं, महाप्राज्ञ हैं। उनकी प्रज्ञा अत्यन्त प्रसन्न व अत्यन्त तीव्र है।"[६]

सारिपुत्र के निधन पर बुद्ध कहते हैं—"आज धर्मरूप कल्पवृक्ष की एक विशाल शाखा टूट गई है।" बुद्ध सारिपुत्र को धर्म-सेनापति भी कहा करते थे।

---

४. अंगुत्तर निकाय, अट्ठकथा, १।४।१।

५. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, संघ-भेदक-खन्धक।

६. संयुत्तनिकाय, अनाथपिण्डिकवग्ग, सुसिम सुत्त।

मौद्गल्यायन :

मौद्गल्यायन का नाम भी सारिपुत्र के साथ-साथ बुद्ध के प्रधान शिष्यों में आता है। वे तपस्वी और सर्वश्रेष्ठ ऋद्धिमान[७] थे। जैन-परम्परा में जैसे गौतम के लब्धि-वल के विषय में अनेक बातें प्रचलित हैं; उसी प्रकार मौद्गल्यायन के ऋद्धि-वल की अनेक घटनाएँ बौद्ध-परम्परा में प्रचलित हैं।

पाँचसौ वज्जी भिक्षुओं को देवदत्त के नेतृत्व से मुक्त करने में सारिपुत्र के साथ मौद्गल्यायन का भी पूरा हाथ रहा है।[८]

बुद्ध की प्रमुख उपासिका विशाखा ने सत्ताईस करोड़ स्वर्ण-मुद्राओं की लागत से बुद्ध और उनके भिक्षु-संघ के लिए एक विहार बनाने का निश्चय किया। इस कार्य के लिए विशाखा ने बुद्ध से एक मार्ग-दर्शक भिक्षु की याचना की। बुद्ध ने कहा—"तुम जिस भिक्षु को चाहती हो, उसी का चीवर और पात्र उठा लो।" विशाखा ने यह सोचकर कि मौद्गल्यायन, भिक्षु ऋद्धिमान् हैं; इनके ऋद्धिवल से मेरा कार्य शीघ्र सम्पन्न होगा; उन्हें ही इस कार्य के लिए मांगा। बुद्ध ने पाँचसौ भिक्षुओं के परिवार से मौद्गल्यायन को वहाँ रखा। कहा जाता है, उनके ऋद्धि-वल से विशाखा के कर्मकर रात भर में साठ-साठ योजन से बड़े-बड़े वृक्ष, पत्थर आदि उठा ले आने में समर्थ हो जाते थे।[९]

जैन-परम्परा उक्त समारम्भपूर्ण उपक्रम को भिक्षु के लिए आदरणीय नहीं मानती और न वह लब्धि-बल को प्रयुज्य ही मानती है, पर लब्धि-वल की क्षमता और प्रयोग की अनेक अद्भुत घटनाएँ उसमें भी प्रचलित हैं। महावीर द्वारा संदीक्षित नन्दीसेन भिक्षु ने, जो श्रेणिक राजा के पुत्र थे, अपने तपो-बल से वेश्या के यहाँ स्वर्ण-मुद्राओं की वृष्टि कर दिखाई।[१०]

---

७. अंगुत्तर निकाय, १।१४।

८. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, संघ-भेदक-खन्धक।

९. धम्मपद-अट्ठकथा, ४।४४।

१०. त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्रम्, पर्व १०, सर्ग ६।

महावीर ने अंगुष्ठ-स्पर्श से जैसे समग्र मेरु पर्वत को प्रकम्पित कर इन्द्र को प्रभावित किया; बौद्ध-परम्परा में मौद्गल्यायन द्वारा वैजयन्तप्रासाद को अंगुष्ठ-स्पर्श से प्रकम्पित कर इन्द्र को प्रभावित कर देने की बात कही जाती है।[११] कहा जाता है, एकबार बुद्ध, मौद्गल्यायन प्रभृति पूर्वाराम के ऊपरी भौम में थे। प्रासाद के नीचे कुछ प्रमादी भिक्षु वार्ता, उपहास आदि कर रहे थे। उनका ध्यान खींचने के लिए मौद्गल्यायन ने अपने ऋद्धि-बल से सारे प्रासाद को प्रकम्पित कर दिया। संविग्न और रोमांचित उन प्रमादी भिक्षुओं को बुद्ध ने उद्बोधन दिया।[१२]

औपपातिक सूत्र में महावीर के पारिपार्श्विक भिक्षुओं के विषय में बताया गया है :

१. अनेक भिक्षु ऐसे थे, जो मन से भी किसी को अभिशप्त और अनुगृहीत कर सकते थे।
२. अनेक भिक्षु ऐसे थे, जो वचन से ऐसा कर सकते थे।
३. अनेक भिक्षु ऐसे थे, जो कायिक-प्रवर्तन से ऐसा कर सकते थे।
४. अनेक भिक्षु श्लेष्मौषधलब्धि वाले थे। उनसे श्लेष्म से ही सभी प्रकार के रोग मिटते थे।
५. अनेक भिक्षु जल्लौषध लब्धि के धारक थे। उनके शरीर के मैल से दूसरों के रोग मिटते थे।
६. अनेक भिक्षु विप्रुषौषधलब्धि के धारक थे। उनके प्रस्रवण की बूंद भी रोग-नाशक होती थी।
७. अनेक भिक्षु आमर्षौषधलब्धि के धारक थे। उनके हाथ के स्पर्श-मात्र से रोग मिट जाते थे।
८. अनेक भिक्षु सर्वौषधलब्धि वाले थे। उनके केश, नख, रोम आदि सभी औषधिरूप होते थे।
९. अनेक भिक्षु पदानुसारीलब्धि के धारक थे, जो एक पद के श्रवण-मात्र से अनेकानेक पदों का स्मरण कर लेते थे।

---

११. मज्झिमनिकाय, चूलतण्हासंखय सुत्त।
१२. संयुत्तनिकाय, महावग्ग, ऋद्धिपाद, संयुत्त प्रासादकम्पनवग्ग, मोग्गलान सुत्त।

१०. अनेक भिक्षु संभिन्न श्रोतृ-लब्धि के धारक थे, जो किसी भी एक इन्द्रिय से पाँचों इन्द्रियों के विषय ग्रहण कर सकते थे। उदाहरणार्थ—कान से सुन भी सकते थे, देख भी सकते थे, चख भी सकते थे आदि।
११. अनेक भिक्षु अक्षीणमहानसलब्धि के धारक थे, जो प्राप्त अन्न को जब तक स्वयं न खा लेते थे, तब तक शतशः—सहस्रशः व्यक्तियों को खिला सकते थे।
१२. अनेक भिक्षु विकुर्वण ऋद्धि के धारक थे। वे अपने नानारूप बना सकते थे।
१३. अनेक भिक्षु जंघाचारणलब्धि के धारक थे। वे जंघा पर हाथ लगाकर एक ही उड़ान में तेरहवें रुचकवर द्वीप तक और मेरु पर्वत तक जा सकते थे।
१४. अनेक भिक्षु विद्याचरण लब्धि के धारक थे। वे ईषत् उपष्टम्भ से दो उड़ान में आठवें नन्दीश्वर द्वीप तक और मेरु पर्वत पर जा सकते थे।
१५. अनेक भिक्षु आकाशातिपातीलब्धि के धारक थे। वे आकाश में गमन कर सकते थे। आकाश से रजत आदि इष्ट-अनिष्ट पदार्थों की वर्षा कर सकते थे।"[१३]

मौद्गल्यायन का निधन बहुत ही दयनीय प्रकार का बताया गया है। उनके ऋद्धि-बल से जल-भुन कर इतर तैर्थिकों ने उनको पशुमार से मारा। उनकी अस्थियाँ इतनी चूर-चूर कर दी गईं कि कोई खण्ड एक तण्डुल से बड़ा नहीं रहा। यह भी बताया गया है कि प्रतिकारक ऋद्धिबल के होते हुए भी उन्होंने इसे पूर्वकर्मों का परिणाम समझ कर स्वीकार किया।[१४]

---

१३. अप्पेगइया मणेणं सावाणुग्गहसमत्था, वएणं सावाणुग्गहसमत्था, काएणं सावाणुग्गहसमत्था, अप्पेगइया खेलोसहिपत्ता, एवं जल्लोसहिपत्ता, विप्पोसहिपत्ता, आमोसहिपत्ता, सव्वोसहिपत्ता,……पयाणुसारी, संभिन्नसोआ अक्खीणमहाणसिआ, विउव्वणिड्ढिपत्ता, चारणा, विज्जाहरा, आगासाइवाइणो।

—उववाइय सुत्त, १५।

१४. धम्मपद-अट्ठकथा, १०१७; मिलिन्दप्रश्न, परि० ४, पृ० २२६।

आनन्द :

कुछ दृष्टियों से बुद्ध के सारिपुत्र और मौद्गल्यायन से भी अधिक अभिन्न शिष्य आनन्द थे। बुद्ध के साथ इनके संस्मरण बहुत ही रोचक और प्रेरक हैं। इनके हाथों कुछ ऐसे ऐतिहासिक कार्य भी हुए हैं, जो बौद्ध-परम्परा में सदा के लिए अमर रहेंगे। बौद्ध-परम्परा में भिक्षुणी-संघ का श्रीगणेश नितान्त आनन्द की प्रेरणा से हुआ। बुद्ध नारी-दीक्षा के पक्ष में नहीं थे। उन्हें उसमें अनेक दोष दीखते थे। केवल आनन्द के आग्रह पर महाप्रजापति गौतमी को उन्होंने दीक्षा दी। दीक्षा देने के साथ-साथ यह भी उन्होंने कहा—"आनन्द ! यह भिक्षु-संघ यदि सहस्र वर्ष तक टिकने वाला था तो अब पाँचसौ वर्ष से अधिक नहीं टिकेगा। अर्थात् नारी-दीक्षा से मेरे धर्म-संघ की आधी ही उम्र शेष रह गई है।"[१५]

प्रथम बौद्ध-संगीति में त्रिपिटकों का संकलन हुआ। पांचसौ अर्हत्-भिक्षुओं में एक आनन्द ही ऐसे भिक्षु थे जो सूत्र के अधिकारी ज्ञाता थे, अतः उन्हें ही प्रमाण मानकर सुत्तपिटक का संकलन हुआ। कुछ बातों की स्पष्टता यथासमय बुद्ध के पास न कर लेने के कारण उन्हें भिक्षु-संघ के समक्ष प्रायश्चित्त भी करना पड़ा। आश्चर्य तो यह है कि भिक्षुसंघ ने उन्हें स्त्री-दीक्षा का प्रेरक बनने का भी प्रायश्चित्त कराया।[१६]

आनन्द बुद्ध के उपस्थाक (परिचारक) थे। उपस्थाक बनने का घटनाप्रसंग भी बहुत सरस है। बुद्ध ने अपनी आयु के ५६ वें वर्ष में एकदिन सभी भिक्षुओं को आमंत्रित कर कहा—"भिक्षुओ ! मेरे लिए एक उपस्थाक नियुक्त करो। उपस्थाक के अभाव में मेरी अवहेलना होती है। मैं कहता हूँ, इस रास्ते चलना है, भिक्षु उस रास्ते जाते हैं। मेरा चीवर और पात्र भूमि पर यों ही रख देते हैं।"

---

१५ विस्तार के लिए देखें 'आगम और त्रिपिटक: एक अनुशीलन, खण्ड १, के अन्तर्गत "आचार-ग्रन्थ और आचार-संहिता" प्रकरण।

१६. आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन, प्रथम खण्ड के अन्तर्गत देखें, "आचार-ग्रन्थ और आचार-संहिता" प्रकरण।

सारिपुत्र, मौद्गल्यायन आदि सभी को टालकर बुद्ध ने आनन्द को उपस्थाक-पद पर नियुक्त किया।[१७]

तब से आनन्द बुद्ध के अनन्य सहचारी रहे। समय-समय पर गौतम की तरह उनसे प्रश्न पूछते रहते और समय-समय पर उनसे परामर्श भी लेते रहते। जिस प्रकार महावीर से गौतम का सम्बन्ध पूर्वभवों में भी रहा, उसी प्रकार जातक-साहित्य में आनन्द के भी बुद्ध के साथ उत्पन्न होने की अनेक कथाएँ मिलती हैं। आगन्तुकों के लिए बुद्ध से भेंट का माध्यम भी मुख्यतः वे ही बनते। बुद्ध के निर्वाण-प्रसंग पर गौतम की तरह आनन्द भी व्याकुल हुए। गौतम महावीर-निर्वाण के पश्चात् व्याकुल हुए। आनन्द निर्वाण से पूर्व ही एक ओर जाकर दीवाल की खूँटी पकड़कर रोने लगे; जबकि उन्हें बुद्ध के द्वारा उसी दिन निर्वाण होने की सूचना मिल चुकी थी। महावीर-निर्वाण के पश्चात् गौतम उसी रात को केवली हो गये। बुद्ध-निर्वाण के पश्चात् प्रथम बौद्ध-संगीति में जाने से पूर्व आनन्द भी अर्हत् हो गये। गौतम की तरह इनको भी अर्हत् न होने की आत्म-ग्लानि हुई। दोनों ही घटना-प्रसंग बहुत सामीप्य रखते हैं।

महावीर के भी एक अनन्य उपासक आनन्द[१८] थे, पर ये गृही-उपासक थे और बौद्ध-परम्परा के आनन्द बुद्ध के भिक्षु-उपासक थे। नाम साम्य के अतिरिक्त दोनों में कोई तादात्म्य नहीं है। महावीर के भिक्षु शिष्यों में भी एक आनन्द थे, जिन्हें बुलाकर गोशालक ने कहा था—"मेरी तेजोलब्धि के अभिघात से महावीर शीघ्र ही कालधर्म को प्राप्त होंगे।" जिनका उल्लेख गोशालक-संलाप में आता है।

उपालि :

उपालि प्रथम संगीति में विनय-सूत्र के संगायक थे। विनय-सूत्र उन्होंने बुद्ध की पारिपार्श्विकता से ग्रहण किया था। ये नापित-कुल

---

१७. अंगुत्तरनिकाय, अट्ठकथा, १।४।१।

१८. उपासकदशांग सूत्र, अ० १।

में उत्पन्न हुए थे और शाक्य राजा भद्दिय, आनन्द आदि पाँच अन्य शाक्य कुमारों के साथ प्रव्रजित हुए थे।[19]

महाकाश्यप :

महाकाश्यप बुद्ध के कर्मठ शिष्य थे। इनका प्रव्रज्या-ग्रहण से पूर्व का जीवन भी बहुत विलक्षण और प्रेरक रहा है। पिप्पलीकुमार और भद्राकुमारी का आख्यान इन्हीं का जीवन-वृत्त है। वही पिप्पलीकुमार माणवक धर्म-संघ में आकर आयुष्मान् महाकाश्यप बन जाता है। इनके सुकोमल और बहुमूल्य चीवर का स्पर्श कर बुद्ध ने प्रशंसा की। उन्होंने बुद्ध से वस्त्र-ग्रहण करने का आग्रह किया। बुद्ध ने कहा—"मैं तुम्हारा यह वस्त्र ले भी लूँ, पर क्या तुम मेरे इस जीर्ण, मोटे और मलिन वस्त्र को धारण कर सकोगे?" महाकाश्यप ने वह स्वीकार किया और उसी समय बुद्ध के साथ उनका चीवर-परिवर्तन हुआ। बुद्ध के जीवन और बौद्ध परम्परा की यह एक ऐतिहासिक घटना मानी जाती है।

महाकश्यप विद्वान् थे। ये बुद्ध-सूक्तों के व्याख्याकार के रूप में प्रसिद्ध रहे हैं। बुद्ध के निर्वाण-प्रसंग पर ये मुख्य निर्देशक रहे हैं। पाँचसौ भिक्षुओं के परिवार से विहार करते, जिस दिन और जिस समय ये चिता-स्थल पहुँचते हैं; उसी दिन और उसी समय बुद्ध की अन्त्येष्टि होती है।[20]

अजातशत्रु ने इन्हीं के सुझाव पर राजगृह में बुद्ध का धातु निधान (अस्थि-गर्भ) बनवाया, जिसे कालान्तर से सम्राट् अशोक ने खोला और बुद्ध की धातुओं को दूर-दूर तक पहुँचाया।[21]

ये महाकाश्यप ही प्रथम बौद्ध-संगीति के नियामक रहे हैं।[22]

आज्ञाकौण्डिन्य, अनिरुद्ध आदि और भी अनेक भिक्षु ऐसे रहे हैं, जो बुद्ध के पारिपार्श्विक कहे जा सकते हैं।

---

१९. विस्तार के लिए देखें— आगम और त्रिपिटक: एक अनुशीलन, प्रथम खण्ड के अन्तर्गत—'भिक्षु-संघ और उसका विस्तार' प्रकरण।

२०. दीघनिकाय, महापरिनिब्बाण सुत्त।

२१. दीघनिकाय, अट्ठकथा, महापरिनिब्बाण सुत्त।

२२. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, पंचशतिका खन्धक।

गौतमी :

बौद्ध भिक्षुणियों में महाप्रजापति गौतमी का नाम उतना ही श्रुतिगम्य है, जितना जैन परम्परा में महासती चन्दनबाला का। दोनों के पूर्वतन जीवन-वृत्त में कोई समानता नहीं है, पर दोनों ही अपने धर्म-नायक की प्रथम शिष्या रही हैं और अपने-अपने भिक्षुणी-संघ में अग्रणी भी।

गौतमी के जीवन की दो बातें विशेष उल्लेखनीय हैं। उसने नारी-जाति को भिक्षु-संघ में स्थान दिलवाया तथा भिक्षुणियों को भिक्षुओं के समान ही अधिकार देने की बात बुद्ध से कही। बुद्ध ने गौतमी को प्रव्रजित करते समय कुछ शर्तें उस पर डाल दी थीं, जिनमें एक थी—चिर-दीक्षिता भिक्षुणी के लिए भी सद्यः दीक्षित भिक्षु वन्दनीय होगा। गौतमी ने उसे स्वीकार किया, पर प्रव्रजित होने के पश्चात् बहुत शीघ्र ही उसने बुद्ध से प्रश्न कर लिया—"भन्ते ! चिर-दीक्षिता भिक्षुणी ही नवदीक्षित भिक्षु को नमस्कार करे; ऐसा क्यों? क्यों न नव-दीक्षित भिक्षु ही चिर-दीक्षिता भिक्षुणी को नमस्कार करे?" बुद्ध ने कहा—"गौतमी ! इतरधर्म-संघों में भी ऐसा नहीं है। हमारा धर्म-संघ तो बहुत श्रेष्ठ है।"[२३]

आज से ढ़ाई हजार वर्ष पूर्व गौतमी द्वारा यह प्रश्न उठा लेना, नारी-जाति के आत्म-सम्मान का सूचक है। बुद्ध का उत्तर इस प्रश्न की अपेक्षा में बहुत ही सामान्य हो जाता है। उनके इस उत्तर से पता चलता है, महापुरुष भी कुछ एक ही नवीन मूल्य स्थापित करते हैं; अधिकांशतः तो वे भी लौकिक-व्यवहार व लौकिक-ढर्रों का अनुसरण करते हैं। अस्तु, गौतमी की यह बात भले ही आज पच्चीस सौ वर्ष बाद भी फलित न हुई हो, पर उसने बुद्ध के समक्ष अपना प्रश्न रखकर नारी-जाति के पक्ष में एक गौरवपूर्ण इतिहास तो बना ही दिया है।

गौतमी के अतिरिक्त खेमा, उत्पलवर्णा, पटाचारा, कुण्डल—

---

२३. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, भिक्खुणी खन्धक।

केशा, भद्रा कापिलायनो आदि अन्य अनेक भिक्षुणियाँ बौद्ध धर्म-संघ में सुविख्यात रही हैं। बुद्ध ने 'एतदग्ग वग्ग'[२४] में अपने इकतालीस भिक्षुओं तथा बारह भिक्षुणिओं को नाम-ग्राह अभिनन्दित किया है। तथा पृथक्-पृथक् भिक्षु-भिक्षुणियों को अग्रगण्य बताया है।

भिक्षुओं में अग्रगण्य :

वे कहते हैं :

१ भिक्षुओ ! मेरे अनुरक्तज्ञ भिक्षुओं में आज्ञाकौण्डिन्य[२५] अग्रगण्य हैं।
२..........महाप्राज्ञों में सारिपुत्र[२६]....।
३..........ऋद्धिमानों में महामौद्गल्यायन[२७]....।
४..........धुतवादियों (त्यागियों) में महाकाश्यप[२८]....।
५..........दिव्यचक्षुओं में अनुरुद्ध[२९]....।
६..........उच्चकुलीनों में भद्दिय कालिगोधा-पुत्र[३०]....।
७..........कोमल स्वर से उपदेष्टाओं में लकुण्टक भद्दिय[३१]....।
८..........सिंहानादियों में पिण्डोल भारद्वाज[३२]....।
९..........धर्मकथिकों में पूर्ण मैत्रायिणी-पुत्र[३३]....।
१०..........व्याख्याकारों में महाकात्यायन[३४]....।
११..मनोगत रूप निर्माताओं व चित्त-विवर्त-चतुरों में चुल्ल पंथक[३५]..।
१२...संज्ञा-विवर्त-चतुरों में महापन्थक[३६]....।

---

२४. अंगुत्तरनिकाय, एककनिपात, १४ के आधार से।
२५. शाक्य, कपिलवस्तु के समीप द्रोण-वस्तु ग्राम, ब्राह्मण।
२६. मगध, राजगृह से अविदूर उपतिष्य (नालक) ग्राम, ब्राह्मण।
२७. मगध, राजगृह से अविदूर कोलित ग्राम, ब्राह्मण।
२८. मगध, महातीर्थ ब्राह्मण ग्राम, ब्राह्मण।
२९. शाक्य, कपिलवस्तु, क्षत्रिय बुद्ध के चाचा अमृतोदन शाक्य के पुत्र।
३०. शाक्य, कपिलवस्तु, क्षत्रिय।
३१. कौशल, श्रावस्ती, धनी (महाभोग)।
३२. मगध, राजगृह, ब्राह्मण।
३३. शाक्य, कपिलवस्तु के समीप द्रोण-वस्तु ग्राम, ब्राह्मण।
३४. अवन्ती, उज्जयिनी, ब्राह्मण।
३५. मगध, राजगृह, श्रेष्ठि-कन्या-पुत्र।
३६. वही।

१३ ···भिक्षुओ ! क्लेश-मुक्तों व दक्षिणेयों में सुभूति[३७] अग्रगण्य है।
१४ ·········आरण्यकों (वन वासियों) में खेतखदिरवनिय[३८]····।
१५ ·········ध्यानियों में कंखा रेवत[३९]····।
१६ ·········उद्यमशीलों में सोडकोडिवीस[४०]····।
१७ ·········सुवक्ताओं में सोणकुटिकण्ण[४१]····।
१८ ·········लाभार्थियों में सीवली[४२]····।
१९ ·········श्रद्धाशीलों में वक्कलि[४३]····।
२० ·········संघीय-नियम-बद्धता में राहुल[४४]····।
२१ ·········श्रद्धा से प्रव्रजितों में राष्ट्रपाल[४५]····।
२२ ·········प्रथम शलाका ग्रहण करने वालों में कुण्डधान[४६]····।
२३ ·········कवियों में वंगीश[४७]····।
२४ ·········समन्त प्रासादिकों (सर्वत: लावण्य-सम्पन्न) में उपसेन वंगन्त-पुत्र[४८]····।
२५ ·········शयनाशन-व्यवस्थापकों में द्रव्य-मल्ल-पुत्र···[४९]····।
२६ ·········देवताओं के प्रियों में पिलिन्दिवात्स्य[५०]····।
२७ ·········प्रखर बुद्धिमानों में वाहियदारुचीरिय[५१]····।

---

३७. कौशल, श्रावस्ती, वैश्य।
३८. मगध, नालक ब्राह्मण-ग्राम, सारिपुत्र के अनुज।
३९. कौशल, श्रावस्ती, महाभोग।
४०. अंग, चम्पा, श्रेष्ठी।
४१. अवन्ती, कुररघर, वैश्य।
४२. शाक्य,कुण्डिण्ण, क्षत्रिय, कोलिह-दुहिता सुप्रनासा का पुत्र।
४३. कौशल, श्रावस्ती, ब्राह्मण।
४४. शाक्य, कपिलवस्तु, क्षत्रिय, सिद्धार्थ-पुत्र।
४५. कुरु, थूलकोण्णित, वैश्य।
४६. कौशल, श्रावस्ती, ब्राह्मण।
४७. वही।
४८. मगध, नालक ब्राह्मण-ग्राम ब्राह्मण, सारिपुत्र के अनुज।
४९. मल्ल, अनूदिया, क्षत्रिय।
५०. कौशल, श्रावस्ती, ब्राह्मण।
५१. बाहियराष्ट्र, कुल-पुत्र।

२८. भिक्षुओ ! विचित्र वक्ताओं में कुमार काश्यप[५२] अग्रगण्य है।
२९ ············ प्रतिसंवित्प्राप्तों में महाकोण्ठित[५३]····।
३० ············ बहुश्रुतों, स्मृतिमानों, गतिशीलों, धृतिमानों व उपस्थाकों में आनन्द[५४]····।
३१ ············ महापरिषद् वालों में उरुवेल काश्यप[५५]····।
३२ ············ कुल-प्रसादकों में काल-उदायी[५६]····।
३३ ············ निरोगों में वक्कुल[५७]····।
३४ ············ पूर्व जन्म का स्मरण करने वालों में शोभित[५८]····।
३५ ············ विनयधरों में उपालि[५९]····।
३६ ············ भिक्षुणियों के उपदेष्टाओं में नन्दक[६०]····।
३७ ············ जितेन्द्रियों में नन्द[६१]····।
३८ ············ भिक्षुओं के उपदेष्टाओं में महाकप्पिन[६२]····।
३९ ············ तेज-धातु-कुशलों में स्वागत[६३]····।
४० ············ प्रतिभाशालियों में राध[६४]····।
४१ ············ रुक्ष-चीवर-धारियों से मोघराज[६५]····।

---

५२. मगध, राजगृह।
५३. कौशल, श्रावस्ती, ब्राह्मण।
५४. शाक्य, कपिलवस्तु, क्षत्रिय, अमृतौदन-पुत्र।
५५. काशी, वाराणसी, ब्राह्मण।
५६. शाक्य, कपिलवस्तु, अमात्यगेह।
५७. वत्स, कौशाम्बी, वैश्य।
५८. कौशल, श्रावस्ती, ब्राह्मण।
५९. शाक्य, कपिलवस्तु, नापित।
६०. कौशल, श्रावस्ती, कुल-गेह।
६१. शाक्य, कपिलवस्तु, क्षत्रिय, महाप्रजापति-पुत्र।
६२. सीमांत, कुक्कुटवती, राजवंश।
६३. कौशल, श्रावस्ती, ब्राह्मण।
६४. मगध, राजगृह, ब्राह्मण।
६५. कौशल, श्रावस्ती, ब्राह्मण, बावरी-शिष्य।

भिक्षुणियों में अग्रगण्य :

१. भिक्षुओ ! मेरी रक्तज्ञा भिक्षुणियों में महाप्रजापति गौतमी अग्रगण्या है[६६]....।

२..........महाप्रज्ञाओं में खेमा[६७]....।

३..........ऋद्धि-शालिनियों में उत्पलवर्णा[६८]....।

४..........विनयधराओं में पटाचारा[६९]....।

५..........धर्मोपदेशिकाओं में धम्मदिन्ना[७०]....।

६..........ध्यायिकाओं में नन्दा[७१]....।

७..........उद्यमशीलाओं में सोणा[७२]....।

८..........दिव्य-चाक्षुकों में सकुला[७३]....।

९..........प्रखर प्रतिभाशालिनियों में भद्रा कुण्डल केशा[७४]....।

१०..........पूर्वजन्म का अनुस्मरणकारिकाओं में भद्राकापिलायनी[७५]....।

११..........महाअभिज्ञाधारिकाओं में भद्रा कात्यायनी[७६]....।

१२..........रुक्ष-चीवर धारिकाओं में कृशा गौतमी[७७]....।

१३..........श्रद्धा-युक्तों में शृगाल माता[७८]....।

---

६६. शाक्य, कपिलवस्तु, क्षत्रिय, शुद्धोधन की पत्नी ।

६७. मद्र, सागल, राजपुत्री, मगधराज बिम्बिसार की पत्नी ।

६८. कौशल, श्रावस्ती, श्रेष्ठिकुल ।

६९. वही ।

७०. मगध, राजगृह, विशाख श्रेष्ठी की पत्नी ।

७१ शाक्य, कपिलवस्तु. महाप्राजापति गौतमी की पुत्री ।

७२. कौशल, श्रावस्ती, कुल-गेह ।

७३. वही ।

७४. मगध, राजगृह, श्रेष्ठिकुल ।

७५. मद्र, सागल, ब्राह्मण, महाकाश्यप की पत्नी ।

७६. शाक्य, कपिलवस्तु, क्षत्रिय, राहुल-माता-देवदहवासी सुप्रबुद्ध शाक्य की पुत्री ।

७७. कौशल, श्रावस्ती, वैश्य'

७८. मगध, राजगृह, श्रेष्ठिकुल

आगम-साहित्य में 'एतदग्ग वग्ग' की तरह नामग्राह कोई व्यवस्थित प्रकरण इस विषय का नहीं मिलता, पर कल्पसूत्र का केवली आदि का संख्याबद्ध उल्लेख महावीर के भिक्षु-संघ की व्यापक सूचना हमें दे देता है। औपपातिक सूत्र में निर्ग्रन्थों के विविध तपों का और उनकी अन्य विविध विशेषताओं का सविस्तार वर्णन है। तप के विषय में बताया गया है—"अनेक भिक्षु कनकावली तप करते हैं। अनेक भिक्षु एकावली तप, अनेक भिक्षु लघुसिंहनिष्क्रीड़ित तप, अनेक भिक्षु भद्र-प्रतिमा, अनेक भिक्षु महाभद्र प्रतिमा, अनेक भिक्षु सर्वतोभद्र प्रतिमा, अनेक भिक्षु आयंबिल वर्द्धमान तप, अनेक भिक्षु मासिकी भिक्षु प्रतिमा, अनेक भिक्षु द्विमासिकी भिक्षु प्रतिमा से सप्त मासिकी भिक्षुप्रतिमा, अनेक भिक्षु प्रथम-द्वितीय-तृतीय सप्त अहोरात्र प्रतिमा, अनेक भिक्षु एक अहोरात्र प्रतिमा, अनेक भिक्षु एक रात्रि प्रतिमा, अनेक भिक्षु सप्त सप्तमिका प्रतिमा, अनेक भिक्षु यवमध्यचन्द्र प्रतिमा तथा अनेक भिक्षु वज्रमध्यचन्द्र प्रतिमा तप करते थे।"[७९]

अन्य विशेषताओं के सम्बन्ध में वहाँ बताया गया है—"वे भिक्षु ज्ञान-सम्पन्न, दर्शन-सम्पन्न, चारित्र-सम्पन्न, लज्जा-सम्पन्न व लाघव-सम्पन्न थे। वे ओजस्वी, तेजस्वी, वर्चस्वी और यशस्वी थे। वे इन्द्रिय-जयी, निद्रा-जयी और परिषह-जयी थे। वे जीवन की आशा और मृत्यु के भय से विमुक्त थे। वे प्रज्ञप्ति आदि विद्याओं व मंत्रों में प्रधान थे। वे श्रेष्ठ, ज्ञानी, ब्रह्मचर्य, सत्य व शौर्य में कुशल थे। वे चारुवर्ण थे। भौतिक आशा-वाञ्छा से वे ऊपर उठ चुके थे। औत्सुक्य-रहित, श्रामण्य-पर्याय में सावधान और वाह्य-आभ्यन्तरिक ग्रन्थियों के भेदन में कुशल थे। स्व-सिद्धान्त और पर-सिद्धान्त के ज्ञाता थे। पर-वादियों को परास्त करने में अग्रणी थे। द्वादशांगी के ज्ञाता और समस्त गणिपिटक के धारक थे। अक्षरों से समस्त संयोगों के व सभी भाषाओं के ज्ञाता थे। वे जिन (सर्वज्ञ) न होते हुए भी जिन के सदृश थे।"[८०]

---

७९. उववाइय सुत्त, १५।

८०. वही, १५।१६।

प्रकीर्ण रूप से भी अनेकानेक भिक्षु-भिक्षुणियों के जीवन-प्रसंग आगम-साहित्य में बिखरे पड़े हैं, जिनसे उनकी विशेषताओं का पर्याप्त ब्योरा मिल जाता है।

काकन्दी के धन्य :

काकन्दी के धन्य वत्तीस परिणीता पत्नियों और वत्तीस महलों को छोड़कर भिक्षु हुए थे। महावीर के साथ रहते हुए उन्होंने इतना तप तपा कि उनका शरीर केवल अस्थि-कंकाल मात्र रह गया था। राजा विम्बिसार के द्वारा पूछे जाने पर महावीर ने उनके विषय में कहा—"अभी यह धन्य भिक्षु अपने तप से, अपनी साधना से चतुर्दश सहस्र भिक्षुओं में दुष्कर क्रिया करने वाला है।"[८१]

मेघकुमार :

विम्बिसार के पुत्र मेघकुमार दीक्षा-पर्याय की प्रथम रात में संयम से विचलित हो गये। उन्हें लगा. कल तक जब मैं राजकुमार था, सभी भिक्षु मेरा आदर करते थे, स्नेह दिखलाते थे। आज मैं भिक्षु हो गया, तो मेरा वह आदर कहाँ ? मुँह टालकर भिक्षु इधर-उधर अपने कामों में दौड़े जाते हैं। सदा की तरह मेरे पास आकर कोई जमा नहीं हुए। शयन का स्थान मुझे अन्तिम मिला है। द्वार से निकलते और आते भिक्षु मेरी नींद उड़ाते हैं। मेरे साथ यह कैसा व्यवहार ? प्रभात होते ही मैं भगवान् महावीर को उनकी दी हुई प्रव्रज्या वापस करूँगा। प्रातःकाल ज्यों ही वह महावीर के सम्मुख आया, महावीर ने अपने ही ज्ञान-बल से कहा—"मेघकुमार! रात को तेरे मन में ये-ये चिन्ताएँ उत्पन्न हुई ? तुमने पात्र-रजोहरण आदि सँभलाकर घर जाने का निश्चय किया ?" मेघकुमार ने कहा—"भगवन् ! आप सत्य कहते हैं।" महावीर ने उन्हें संयमारूढ़

---

८१. इमेसिणं भन्ते ! इंदभूई पामोक्खाणं चउदसण्हं समण साहसीणं कयरे अणगारे महादुक्करकारए चेव महाणिज्जरकारए चेव ? एवं खलु सेणिया। इमीसि इंदभूई पामोक्खाणं चउदसण्हं समणसाहसीणं धन्ने अणगारे महादुक्करकारए चेवं महानिज्जरकारए चेव।

—अणुत्तरोववाई दशांग, वर्ग० ३, अ० १।

होने के लिए नाना उपदेश दिए तथा उनके पूर्व भव का वृत्तान्त बताया। मेघकुमार पुनः संयमारूढ़ हो गया।

मेघकुमार भिक्षु ने जाति-स्मरण ज्ञान पाया। एकादशांगी का अध्ययन किया। गुणरत्नसंवत्सर तप की आराधना की। भिक्षु की 'द्वादश प्रतिमा' आराधी। अन्त में महावीर से आज्ञा ग्रहण कर वैभारगिरि पर आमरण अनशन कर उत्कृष्ट देवगति को प्राप्त हुए।[८२]

बौद्ध-परम्परा में सद्यःदीक्षित नन्द का भी मेघकुमार जैसा ही हाल रहा है। वह अपनी नव विवाहिता पत्नी जनपद कल्याणी नन्दा के अन्तिम आमंत्रण को याद कर दीक्षित होने के अनन्तर ही विचलित-सा हो गया। बुद्ध ने यह सब कुछ जाना और उसे प्रतिबुद्ध करने के लिए ले गये। मार्ग में उन्होंने उसे एक बन्दरी दिखलाई, जिसके कान, नाक और पूँछ कटी हुई थी; जिसके बाल जल गये थे; जिसकी खाल फट गई थी; जिसकी चमड़ी मात्र बाकी रह गई थी तथा जिसमें से रक्त बह रहा था और पूछा—"क्या तुम्हारी पत्नी इससे अधिक सुन्दर है?" वह बोला—"अवश्य!" तब बुद्ध उसे त्रायस्त्रिंश स्वर्ग में ले गये। अप्सराओं सहित इन्द्र ने उनका अभिनन्दन किया। बुद्ध ने अप्सराओं की ओर संकेत करके पूछा—"क्या जनपद कल्याणी नन्दा इनसे भी सुन्दर है?" वह बोला—"नहीं, भन्ते! जनपद कल्याणी की तुलना में जैसे वह लुंज बन्दरी थी, उसी तरह इनकी तुलना में जनपद कल्याणी है।" बुद्ध ने कहा—"तब उसके लिए तू क्यों विक्षिप्त हो रहा है? भिक्षु-धर्म का पालन कर। तुझे भी ऐसी अप्सराएँ मिलेंगी।"[८३] नन्द पुनः श्रमण-धर्म

---

८२. पूर्व जीवन के लिए देखें—आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन, प्रथम खण्ड, के अन्तर्गत "भिक्षु-संघ और उसका विस्तार" प्रकरण।

८३. जैन परम्परा का 'सुन्दरी नन्द' आख्यान भी इस बौद्ध-प्रसंग से बहुत मिलता-जुलता है। यहाँ बुद्ध अपने भाई को अप्सराएँ दिखला कर प्रतिबोध देते हैं, वहाँ विषयासक्त सुन्दरी नन्द को उसके भ्राता भिक्षु अपने लब्धि-बल से बंदरी, विद्याधरी और अप्सरा दिखाकर उसकी पत्नी सुन्दरी से विरक्त करते हैं।

—द्रष्टव्य—आवश्यक मलयगिरिटीका

में आरूढ़ हुआ। उसका वह वैषयिक लक्ष्य तब मिटा, जब सारिपुत्र आदि महाश्रावकों (भिक्षुओं) ने उसे इस बात पर लज्जित किया कि वह अप्सराओं के लिए भिक्षु-धर्म का पालन कर रहा है। इस प्रकार विषय-मुक्त होकर वह अर्हत् हुआ।[८४]

मेघकुमार और नन्द के विचलित होने के निमित्त सर्वथा भिन्न थे, पर घटना-क्रम दोनों का ही बहुत सरस और बहुत समान है। महावीर मेघकुमार को पूर्व-भव का दुःख बताकर सुस्थिर करते हैं और बुद्ध नन्द को आगामी भव के सुख बताकर सुस्थिर करते हैं। विशेष उल्लेखनीय यह है कि मेघकुमार की तरह प्राक्तन भवों में नन्द के भी हाथी होने का वर्णन जातक[८५] में है।

शालिभद्र :

राजगृह के शालिभद्र, जिनके वैभव को देखकर राजा बिम्बिसार भी विस्मित रह गये थे, भिक्षु-जीवन में आकर उत्कट तपस्वी बने। मासिक, द्विमासिक और त्रैमासिक तप उनके निरन्तर चलता रहता। एकबार महावीर बृहत् भिक्षु-संघ के साथ राजगृह आये। शालिभद्र भी साथ थे। उस दिन उनके एक महीने की तपस्या का पारण होना था। उन्होंने नतमस्तक हो, महावीर से भिक्षार्थ नगर में जाने की आज्ञा मांगी। महावीर ने कहा—"जाओ, अपनी माता के हाथ से 'पारण' पाओ।" शालिभद्र अपनी माता भद्रा के घर आये। भद्रा महावीर और अपने पुत्र के दर्शन को तैयार हो रही थी। उत्सुकता में उसने घर आये मुनि की ओर ध्यान ही नहीं दिया। कर्मकरों ने भी अपने स्वामी को नहीं पहचाना। शालिभद्र बिना भिक्षा पाये ही लौट गये। रास्ते में एक अहीरिन मिली। वह दही का मटका लिए जा रही थी। मुनि को देखकर उसके मन में स्नेह जगा।

---

८४. सुत्तनिपात-अट्ठकथा, पृ० २७२, धम्मपद-अट्ठकथा. खण्ड १, पृ० ९६—१०५. जातक सं० १८२। थेरगाथा १५७,
Dictionary of Pali Proper Names, Vol. 1, PP. 10.11

८५. सङ्गामावचर जातक, सं० १८२, (हिन्दी अनुवाद) खण्ड २, पृ० २४८-२५४

वह रोमांचित हो गई। उसके स्तनों से दूध की धारा वह चली। उसने मुनि को दही लेने का आग्रह किया। मुनि दही लेकर महावीर के पास आये। 'पारण' किया। महावीर से पूछा—"भगवन् आपने कहा था, माता के हाथ से पारण करो। वह क्यों नहीं हुआ ?" महावीर ने कहा—"शालिभद्र ! माता के हाथ से ही 'पारण' हुआ है। वह अहीरिन तुम्हारे पिछले जन्म की माता थी।"

महावीर की अनुज्ञा पाकर शालिभद्र ने उसी दिन वैभारगिरि पर जा आमरण अनशन कर दिया। भद्रा समवसरण में आई। महावीर के मुख से शालिभद्र का भिक्षाचरी से लेकर अनशन तक का सारा वृतान्त सुना। माता के हृदय पर जो बीत सकता है, वह बीता। तत्काल वह पर्वत पर आई। पुत्र की उस तपःक्लिष्ट काया को और मरणाभिमुख स्थिति को देखकर उसका हृदय हिल उठा। वह दहाड़ मार कर रोने लगी। राजा बिम्बिसार ने उसे सान्त्वना दी। उद्‌बोधन दिया। वह घर गई। शालिभद्र सर्वोच्च देवगति को प्राप्त हुए। उनके गृही-जीवन की विलास-प्रियता और भिक्षु-जीनव की कठोर साधना दोनों ही उत्कृष्ट थीं।

स्कन्दक :

स्कन्दक महावीर के परिव्राजक भिक्षु थे। परिव्राजक-साधना से भिक्षु-साधना में आना और उसमें उत्कृष्टरूप से रम जाना, उनकी उल्लेखनीय विशेषता थी। आगम बताते हैं—स्कन्दक यत्नपूर्वक ठहरते, यत्नपूर्वक बैठते, यत्नपूर्वक सोते, यत्नपूर्वक खाते और यत्नपूर्वक बोलते। प्राण, भूत, जीव, सत्व के प्रति संयम रखते। वे कात्यायन गोत्रीय स्कन्दक ईर्या आदि पाँचों समितियों से सयत, वचः संयत, काय संयत, जितेन्द्रिय, आकांक्षा-रहित, चपलता-रहित और संयमरत थे।[८६]

वे स्कन्दक भिक्षु स्थविरों के पास अध्ययन कर एकादश अंगों के ज्ञाता बने। उन्होंने भिक्ष को द्वादश प्रतिमा आराधी। भगवान् महावीर से आज्ञा लेकर गुणरत्नसंवत्सर-तप तपा। इस उत्कट तप से उनका सुन्दर, सुडौल और मनोहारो शरीर रुक्ष, शुष्क और

---

८६. भगवती सूत्र, श० २, उ० १

कृश हो गया। चर्मवेष्टित हड्डियाँ ही शरीर में रह गईं। जब वे चलते, उनकी हड्डियाँ शब्द करतीं, जैसे कोई सूखे पत्तों से भरी गाड़ी चल रही हो, कोयलों से भरी गाड़ी चल रही हो। वे अपने तप के तेज से दीप्त थे।[८७]

स्कन्दक तपस्वी को बोलने में ही नहीं; बोलने का मन करने मात्र से ही क्लान्ति होने लगी। अपने शरीर की इस क्षीणावस्था का विचार कर वे महावीर के पास आये। उनसे आमरण अनशन की आज्ञा मांगी। अनुज्ञा पा, परिचारक भिक्षुओं के साथ विपुलाचल पर्वत पर आये। यथाविधि अनशन ग्रहण किया। एक मास के अनशन से काल-धर्म को पा अच्युतकल्प स्वर्ग में देव हुए। महावीर के पारिपार्श्विकों में इनका भी उल्लेखनीय स्थान रहा है। पंचमांग भगवती सूत्र में इनके जीवन और इनकी साधना पर सविस्तार प्रकाश डाला गया है।

महावीर की भिक्षुणियों में चन्दनबाला के अतिरिक्त मृगावती, देवानन्दा, जयन्ती, सुदर्शना आदि अनेक नाम उल्लेखनीय हैं।

महावीर और बुद्ध के पारिपार्श्विक भिक्षु-भिक्षुणियों की यह संक्षिप्त परिचय-गाथा है। विस्तार के लिए इस दिशा में बहुत अवकाश है। जो लिखा गया है, वह तो प्रस्तुत विषय की झलक मात्र के लिए ही यथेष्ट माना जा सकता है।

—**मुनि श्री नगराजजी**, डी० लिट्

---

८७. तएणं से खंदए अणगारे तेणं उरालेणं, विउलेणं,⋯महाणुभागेणं तवोकम्मेणं सुक्के, लुक्खे, निम्मंसे, अट्ठि चम्मावणद्धे, किडिकिडिया भूए, किसे, धमणि संतए जाए यावि होत्या। जीवं—जीवेण गच्छइ, जीवं जीवेण चिट्ठइ, भासं भासित्ता वि गिलाइ, भासं भासमाणे गिलाइ, भासं भासिस्सामीति गिलायति। से जहानामए कट्ठसगडिया इ वा, पत्त-तिल–भंडगसगडिया इ वा, एरंडकट्ठसगडिया इ वा, इंगालसगडिया इ वा उण्हे दिण्णा सुक्का समाणी ससद्दं गच्छइ, ससद्दं चिट्ठइ, एवामेव खंदए वि अणगारे ससद्दं गच्छइ, ससद्दं चिट्ठइ, उवचिए तवेणं, अवचिए मंससोणिएणं, हुयासणे विव भासारासि-पडिच्छण्णे तवेणं, तेएणं, तव—तेयसिरीए अतीव अतीव उवसोभेमाणे चिट्ठइ। —भगवती सूत्र, श० २, उ० १

१०

श्रमण-संस्कृति के चार आदर्श उपासक

'श्रमण' शब्द सामान्यत: एक विशिष्ट परंपरा के 'भिक्षु' का वाचक है। किन्तु गहराई से देखने पर 'श्रमण' एक 'भिक्षुक' मात्र नहीं, अपितु एक समतावादी व्यक्तित्व का सूचक है। जिसका जीवन तपस्या-प्रधान तथा हृदय समताप्रधान हो वह 'श्रमण' कहलाता है।[1] इस परिभाषा के अनुसार 'श्रमण संस्कृति' का अर्थ है— समताप्रधान संस्कृति। इस संस्कृति में भिक्षु एवं गृहस्थ दोनों का योगदान होने से दोनों ही श्रमणसंस्कृति के अङ्गभूत एवं उसकी धुरी के संचालक हो सकते हैं। वास्तव में जिस प्रकार गाड़ी के दो पहिए समान रूप से गाड़ी का भारवाहन करते हैं, उसी प्रकार भिक्षु एवं उपासक श्रमण संस्कृति की गाड़ी के संवाहक रहे हैं, दोनों के तप:पूत जीवनव्यवहारों से ही इस संस्कृति का विकास, विस्तार एवं संवर्धन हुआ है।

श्रमण संस्कृति के इतिहास में तपोधन श्रमणों की जीवन गाथाएँ उसके प्रतिपृष्ठ पर चमक रही हैं। उग्र तपस्या, तितिक्षा, समत्व-आराधना और प्राणिमात्र के प्रति असीम करुणा का अविरल स्रोत बहाती हुई श्रमणों की जीवन-गाथा युग-युग से प्रेरणा स्रोत बनी हुई है। पर, हमें भूल नहीं जाना है, श्रमण और श्रमणी इस संस्कृति के एक अङ्ग हैं, संपूर्ण संस्कृति नहीं। संस्कृति की परिपूर्णता तब होती है, जब उसमें गृहस्थ—उपासक-उपासिकाओं की धारा भी आ मिलती है। श्रमण-जीवन की धारा जितनी पवित्र और तप:प्रेरित है, उतनी ही नहीं तो, उस लक्ष्य की ओर उतनी ही उन्मुख हुई गृहस्थ जीवन की धारा भी उसी वेग के साथ प्रवाहित होती रही है।

---

१. (क) समणइ तेण सो समणे —अनुयोग द्वार, १२६।
(ख) उवसमसारं खु सामण्णं —बृहत्कल्प सूत्र, १।३५।

कुछ लोग मानते हैं, धर्म आत्मा की वस्तु है। यह ठीक भी है, परन्तु धर्म सिर्फ आत्मा की ही वस्तु नहीं, अपितु वह सामाजिक वस्तु भी है। जब तक धर्म का तत्त्व समाजगत नहीं होता, वह धर्म एक परम्परा या संस्कृति का रूप धारण नहीं कर सकता। यह संभव नहीं था कि केवल त्यागी वर्ग के बल पर ही किसी परम्परा या संस्कृति का निर्माण हो जाता। इस संस्कृति के निर्माण एवं विकास में उपासक वर्ग का भी उतना ही, बल्कि उससे कुछ अधिक ही योग रहा है। उसका जीवन सामाजिक होता है, इसलिए उसमें परिवार, समाज तथा राष्ट्र आदि की अनेक दिशाएँ विकास के लिए खुली होती हैं। उन दिशाओं में उसकी स्वस्थ गति-प्रगति का उपक्रम ही संस्कृति का मूल तत्त्व है। अतः प्रस्तुत में श्रमण संस्कृति के उस उपासक वर्ग की जीवन-साधना का एक संक्षिप्त रेखांकन यहाँ दिया जा रहा है।

जैन अङ्ग सूत्र 'उवासग दशा' में भगवान् महावीर के प्रमुख दस उपासकों की जीवनचर्या का व्यवस्थित वर्णन मिलता है। कुछ उपासक एवं उपासिकाओं का वर्णन भगवती सूत्र में भी प्राप्त होता है,[1] किन्तु जितना विस्तार उवासग दशा में किया गया है, उतना वहाँ नहीं। यह भी उल्लेखनीय है कि जैन-परम्परा की भाँति बौद्ध परम्परा में भी गृहस्थ साधक के लिए 'उपासक' शब्द प्रयुक्त हुआ है। 'श्रमणोपासक' शब्द भी दोनों परम्पराओं में मिलता है। हाँ, जैन परम्परा में गृहस्थ के लिए 'सावए'[2]—श्रावक शब्द भी व्यवहृत हुआ है, वहाँ बौद्ध-परम्परा में श्रावक शब्द भिक्षु और उपासक दोनों के लिए चलता रहा है।[3] भगवान् महावीर के उपासकों (श्रावक-श्राविका) की कुल संख्या चार लाख सतत्तर हजार बताई गई है।[4] बुद्ध के उपासकों की ऐसी कोई निश्चित संख्या प्राप्त नहीं होती। भगवान महावीर के श्रावकों में गाथापति आनन्द श्रावक प्रमुख था।

---

१. भगवती सूत्र १२।१।

२. भगवती।

३. अंगुत्तरनिकाय, एककनिपात १४।

४. समवायांग सूत्र ११४। ११५।

गाथापति आनन्द :

गाथापति (गृहपति) आनन्द वाणिज्य ग्राम का निवासी था। उसकी धर्मपत्नी शिवानन्दा एक सुखी पत्नी और कुशल गृहिणी थी। आनन्द के पास बारह करोड़ हिरण्य की सम्पत्ति थी, जिसमें से चार करोड़ सुरक्षित निधि के रूप में, चार करोड़ व्याज में एवं चार करोड़ उसके व्यापार में लगी हुई थी। आनन्द के पास बहुत बड़ी कृषि भूमि थी तथा गौओं के चार विशाल गोकुल थे, जिनमें चालीस हजार गौएँ थीं। राजा युवराज आदि से लेकर नगर के श्रेष्ठी, सार्थवाह एवं नगर-रक्षक तक सभी आनन्द का सम्मान करते; समय समय पर उससे परामर्श लेते और उसकी मन्त्रणाओं से लाभ उठाते।

एकबार वाणिज्य ग्राम के कोल्लाक (वर्तमान कोल्हुआ) सन्निवेश (उपनगर) में भगवान् महावीर पधारे। गाथापति आनन्द सज्जित होकर भगवान् का उपदेश सुनने को गया। भगवान् ने गृहस्थ धर्म का विस्तार के साथ वर्णन किया, जिसे सुनकर आनन्द विशेष रूप से श्रद्धाशील हुआ और उसे स्वीकार करने को उत्कंठित हो भगवान् के समीप आया। प्रभु को विनय पूर्वक वन्दना कर आनन्द ने भगवान् द्वारा कथित गृहस्थ धर्म को स्वीकार किया।

भगवान् महावीर के निकट धर्म का स्वरूप समझकर उसे स्वीकार कर आनन्द अपने घर आया और अपनी पत्नी शिवानन्दा देवी को उस धर्म के सम्बन्ध में बताया। तत्त्व समझाकर आनन्द ने कहा—"देवानुप्रिये ! इस प्रकार का श्रेष्ठ धर्म हमारे जीवन का हित एवं मङ्गल करने वाला है, यदि तुम्हें यह रुचिकर प्रतीत होता हो, तो मैं चाहता हूँ कि तुम भी इस गृहस्थ धर्म को स्वीकार करो, ताकि अपनी जीवन-यात्रा सच्ची सहधर्मिता के साथ सम्पन्न हो।"

पति का संकेत ही शिवानन्दा के लिए निर्देश था। वह भी भगवान् महावीर की धर्मसभा में पहुँची और गृहस्थ धर्म का विवेचन सुनकर उसे स्वीकार किया।

गृहस्थ धर्म की साधना में आनन्द निरन्तर आगे बढ़ता रहा। जीवन के अन्तिम समय में उसने परिवार का सम्पूर्ण दायित्व अपने ज्येष्ठ पुत्र को सौंपा और स्वयं अपनी पौषधशाला में जाकर ध्यान, आत्मचिन्तन, तपःसाधना आदि के द्वारा धर्म-जागरण करता हुआ

समभाव की उत्कृष्ट साधना करने लगा। उसकी साधना उच्च स्तर पर पहुँची। आनन्द को विशिष्ट अवधिज्ञान प्राप्त हुआ और अन्त में समाधिपूर्वक प्राण त्याग किया। ●

स्थितप्रज्ञ सुलसा :

राजगृह में एक 'नाग' नामक रक्षिक था। सुलसा उसकी धर्म-पत्नी थी। पति-पत्नी दोनों ही भगवान् महावीर के उपदेशों पर दृढ़ आस्था के साथ आचरण करते थे। सुलसा, धार्मिक श्रद्धा में नाग से भी आगे थी। उसके व्रतों को निर्मलता तथा सम्यक्त्व की दृढ़ता के सम्बन्ध में अनेक जनश्रुतियाँ प्रसिद्ध थीं।

विवाह के अनेक वर्ष बीत जाने पर भी सुलसा की गोद खाली रही। इससे नाग गृहस्थ उद्विग्न रहने लगा। एकबार नाग ने किसी घर में बच्चों को हँसते-खेलते देखा, तो उनकी मीठी किलकारियों से नाग का हृदय मचल उठा। पुत्र-अभाव से वह बुरी तरह पीड़ित हुआ। सुलसा ने उसका उदास चेहरा और मुरझाई हुई आँखें देखीं तो वह उसकी वेदना का कारण समझ गई। नाग चुपचाप देव-देवी एवं पण्डे-पुजारियों के पास चक्कर लगाता और पुत्र कामना के वश अनेक प्रकार के उपक्रम करता। यह देख सुलसा ने उसे एक दिन सान्त्वना के स्वर में कहा—"पतिदेव ! पुत्र का अभाव तो पुरुष से नारी को अधिक खलता है, पर उस वेदना में अपना धैर्य एवं विवेक नहीं खोना चाहिए। आप विज्ञ हैं, धर्मज्ञ हैं। पुत्र, यश, धन आदि सभी अपने कृत कर्म के अनुसार ही प्राप्त होते हैं—यह भी आप जानते हैं। फिर जिस वस्तु का हमें अन्तराय है, उसकी प्राप्ति के लिए यों बेचैन होना और अज्ञजनोचित उपक्रम करना कहाँ तक उचित है ? हमें अधिक से अधिक सेवा, दान, शील, तप आदि का अनुष्ठान करना चाहिए। हो सकता है, हमारा अन्तराय कर्म शिथिल हो तो अभिलषित वस्तु की प्राप्ति भी हो जाए।"

सुलसा ने आगे कहा—"मुझे लगता है, शायद मुझसे आपको पुत्र प्राप्ति न हो, अतः आप दूसरा विवाह करलें। संयोग-वियोग तो कर्मानुसार होते ही हैं, अतः हमें हर्ष, शोक से ऊपर उठकर धर्म-साधना में दत्तचित्त रहना चाहिए।"

नाग के हृदय पर सुलसा की स्थितप्रज्ञता का गहरा असर हुआ। उसकी उद्विग्नता दूर हो गई।

सुलसा की तितिक्षा, समता एवं विवेकशीलता अद्‌भुत थी। उस जैसी धैर्य एवं स्थितप्रज्ञता विशिष्ट पुरुषों में भी दुर्लभ थीं। मनुष्य ही नहीं, देवता भी उसके इन गुणों के प्रशंसक थे।

एकवार एक मुनि सुलसा के घर आये। किसी रुग्ण साधु के लिए लक्षपाक तैल की याचना की। सुलसा मुनि को लक्षपाक तैल देने के लिए तत्पर हुई, उसने तैल का वर्तन ज्यों ही हाथ में उठाया; हाथ से छूट कर गिर पड़ा; वहुमूल्य तैल भूमि पर फैल गया। दूसरा वर्तन उठाकर लाने लगी तो वह भी उसी प्रकार गिरकर फूट गया। तीसरी वार भी ऐसा ही हुआ। दुर्लभ और वहुमूल्य तैल यों नष्ट हो जाने पर भी उसका धीरज नहीं टूटा। वह उसी प्रकार शांत थी, प्रसन्न थी। खिन्नता थी तो इसी बात की कि मुनि को याचित वस्तु दे नहीं सकी। मुनि ने यह सर्व घटना देखी, उसके भावों को देखा, उसकी वाणी उसी प्रकार संयत थी, आँखें भी उसी प्रकार स्नेहार्द्र! पहले और अब में सुलसा में कोई अन्तर नहीं आया। यह अद्‌भुत क्षमाशीलता एवं धीरज देखकर मुनि तुरन्त देव रूप में प्रकट हुआ और उसके गुणों की प्रशंसा करते हुए कहा—"देवानुप्रिये! देवसभा में शक्रेन्द्र ने तुम्हारी क्षमा की प्रशंसा की थी। मैं तुम्हारी परीक्षा लेने यहाँ आया था। तुम अपने धर्म में, विनय एवं विवेक में अद्वितीय हो, शक्रेन्द्र द्वारा तुम्हारी प्रशंसा यथार्थ थी! मैं तुम पर वहुत प्रसन्न हुआ हूँ। तुम मुझसे कोई वर माँगो।"

सुलसा ने उसी शान्ति और प्रसन्नता के साथ कहा—"देवानुप्रिय! मुझे किसी वस्तु की कमी नहीं है। और जिस वस्तु की कमी है, वह मेरे कृत-कर्म का ही फल है। समय आने पर मेरा वह मनोरथ भी पूर्ण होगा।"

देवता द्वारा वरदान देने पर भी सुलसा की निःस्पृहता गजब की थी। स्वयं देव भी चकित था—"यह कैसी नारी है जो सहज देवानुग्रह पर भी अपने अभाव की पूर्ति के लिए कुछ माँगती नहीं। अपने भाग्य और पुरुषार्थ पर कितना दृढ़ विश्वास है इसका!"

सुलसा ने देवता से कुछ भी नहीं मांगा। किन्तु देव ने सहज अनुग्रह किया, सुलसा के भाग्य-कल्प वृक्ष का फलने का समय आया। उसे एक ही नहीं, बत्तीस सुकुमार शुभ लक्षणों वाले पुत्र प्राप्त हुए। उसका सूना आंगन चहक उठा।

सुलसा के पुत्र युवा होने पर महाराज श्रेणिक के अङ्गरक्षक बने। जब श्रेणिक वैशालो गणाध्यक्ष चेटक की पुत्री का भूमि मार्ग से अपहरण कर राजगृह की ओर दौड़ा तो चेटक ने उसका पीछा किया। श्रेणिक सुरक्षित दौड़ गया और उन बत्तीसों अङ्गरक्षकों ने चेटक को रोककर युद्ध किया। उस युद्ध में श्रेणिक का एक अङ्गरक्षक मारा गया और एक की मृत्यु के साथ ही शेष इकतीस भाई भी खड़े-खड़े गिर पड़े।

एक दिन सुलसा की सूनी गोद हरी-भरी हुई थी, आज फिर वह गोद सूनी हो गई। दुःख के बाद सुख और सुख के बाद दुःख—यही नियति का क्रम है। पुत्रों की सहसा मृत्यु ने सुलसा के दिल पर गहरी चोट लगाई, किन्तु इस चोट को भी वह चुपचाप सह गई, अपने तत्त्वज्ञान के सुदृढ़ सहारे से। उसका मातृत्व एक बार कराह उठा था, पर अन्तर्विवेक ने उस चीख-पुकार को भीतर ही भीतर शांत कर दिया।

सुलसा की धार्मिक दृढ़ता तो और भी गजब की थी। स्वयं भगवान् महावीर ने धर्म-सभाओं में उसकी प्रशंसा की। अम्बड़ नामक परिव्राजक, जो स्वयं भी महावीर का अनुयायी श्रावक था, सुलसा की धर्म-परीक्षा लेने आया। अनेक प्रकार के मायावी रूप बनाकर उसने सुलसा की दृढ़ धार्मिकता की परीक्षा ली, पर सुलसा अपने धर्म-विवेक से एक कदम भी पीछे नहीं हटी। अम्बड़ ने सुलसा के व्रत-विवेक एवं धर्म-निष्ठा की भूरि-भूरि प्रशंसा की।[1] ● ●

गृहपति अनाथपिण्डक :

अनाथ पिण्डक श्रावस्ती का एक अत्यन्त धनाढ्य और प्रभावशाली श्रेष्ठी था। एकबार वह किसी कार्यवश राजगृह गया।

---

१. विस्तार के लिए देखिए आवश्यक चूर्णि उत्तरार्ध पत्र सं० १०४, तथा उपदेश प्रासाद, स्तम्भ ३, व्याख्यान ३६।

वहाँ उसने तथागत बुद्ध के दर्शन किए। दर्शन कर शास्ता से धर्म सुना। धर्म सुनकर उसे ज्ञान मिला, जैसे अंधेरे में दीपक जला दिया गया हो, मार्ग-भूले को मार्ग दिखा दिया गया हो, उसी प्रकार अनाथ-पिण्डिक को शास्ता से धर्म सुनकर ज्ञाननेत्र प्राप्त हुए, प्रकाश प्राप्त हुआ। अनाथ पिण्डिक ने भगवान् बुद्ध से भिक्षुसंघ के साथ श्रावस्ती में वर्षावास स्वीकार करने की प्रार्थना की।

बुद्ध ने अनाथपिण्डिक की प्रार्थना स्वीकार करते हुए कहा—"गृहपति! तथागत शून्य आगार में अभिरमण करते हैं।"

अनाथपिण्डिक तथागत के संकोच को समझ गया। उसने राजगृह और श्रावस्ती के बीच प्रत्येक योजन पर आरामगृह बनवाये। जहाँ पर धनिक लोग थे, उन्होंने अपने व्यय से, तथा बाकी स्थानों पर अनाथपिण्डिक ने स्वयं धन-व्यय करके आराम बनवाये।[२]

श्रावस्ती पहुँचकर गृहपति ने आराम के उपयुक्त स्थान की खोज प्रारम्भ की। उसने सोचा—"ऐसा स्थान होना चाहिए जो नगर के न अधिक निकट और न अधिक दूर हो, जन-कोलाहल से मुक्त एवं ध्यान के योग्य विजन भूमि हो।" खोजते हुए वह जेत राजकुमार के उद्यान में पहुँचा। वह स्थान उसे बहुत उपयुक्त जंचा। उसने राजकुमार से उद्यान खरीदने का प्रस्ताव भेजा। राजकुमार ने कहा—"गृहपति! वह उद्यान तो कोटि-संथार (कोटि स्वर्ण-मुद्रा) से भी अदेय है।"[२]

इस बात पर अनाथपिण्डिक ने गाड़ियाँ भरकर मोहरें मँगवाई और जेतवन की भूमि पर सटाकर सर्वत्र मोहरें बिछादीं। इस प्रकार जेतवन की भूमि को मोहरों से नापकर उसने खरीदा और उस पर आठ करोड़ मुद्राएँ खर्च करके विशाल आराम का निर्माण करवाया।

भगवान् बुद्ध जब श्रावस्ती में आये तो अनाथपिण्डिक के जेतवन में ठहरे। गृहपति ने भगवान् की भोजन, वस्त्र आदि से बहुत शुश्रूषा की और जेतवन आराम को चातुर्दिश सङ्घ की सेवार्थ समर्पित कर दिया।

---

२. विनयपिटक, अट्ठकथा।

जीवन के अंतिम समय में अनाथपिण्डिक रुग्ण हुआ। उसकी प्रार्थना पर सारिपुत्र आनन्द के साथ उसके घर पर आये। उसे इंद्रिय संयम एवं अनासक्ति का उपदेश दिया, जिसे सुनकर अनाथपिण्डिक को बहुत शान्ति मिली। वह कालधर्म प्राप्त कर तुषित-काय-देवलोक में देव बना।[1] ● ● ●

विशाखा मृगार माता :

विशाखा साकेत के महाधनाढ्य कुलपति धनंजय की पुत्री थी। वह रूप, लावण्य एवं चातुर्य की अद्भुतमूर्ति थी। श्रावस्ती के मृगार श्रेष्ठी के पुत्र पूर्णवर्धन के साथ उसका विवाह हुआ। विशाखा के विवाह-प्रसंग की कथा भी बड़ी रोचक है।

मृगार श्रेष्ठी ने अपने पुत्र के लिए योग्य कन्या की खोज करने के लिए अनेक कुशल पुरुषों को दूर-दूर भेजा। कुछ पुरुष साकेत की गलियों में घूम रहे थे। उस समय विशाखा पाँचसौ कुमारियों के साथ एक उत्सव में सम्मिलित होने निकली थीं। सहसा वर्षा प्रारम्भ होगई। विशाखा की सहेलियाँ भींगने के भय से दौड़कर पास की एक शाला में घुस गई। परन्तु विशाखा उसी प्रकार मन्दगति से चलती हुई शाला में आई। मृगार श्रेष्ठी के पुरुषों ने विशाखा में कुछ विलक्षण सौन्दर्य देखा। वे विशाखा की ओर आकृष्ट हुए। उसके चातुर्य एवं मधुर भाषण की परीक्षा लेने निकट आये और बोले— "अम्म ! क्या तुम वृद्धा हो ?"

विशाखा ने विनम्रता के साथ कहा—"तात ! ऐसा आपने क्या देखा ?"

पुरुषों ने कहा—"तुम्हारे साथ की अन्य कुमारिकाएँ भींगने के भय से दौड़कर शाला में चली गईं, किन्तु तुम वृद्धा की तरह धीरे-धीरे चल रही हो ! तुमने साड़ी के भीगने की तनिक भी चिन्ता नहीं की !"

मधुर-भाषिणी विशाखा ने बड़ी शालीनता से उत्तर दिया— "तात ! मेरे लिए साड़ियों की कमी नहीं है। फिर तरुण कुमारिका

---

१. मज्झिमनिकाय, अनाथपिण्डिकोपवाद सुत्त ३।५।१।

बिकाऊ बर्तन की तरह होती है, हाथ-पैर टूट जाने से वह विकलांग हो जाती है, लोग उससे घृणा करने लगते हैं, उसके विवाह आदि में विघ्न आते हैं। मेरी मन्दगति का कारण अब आप समझ गए होंगे !"

कुछ देर विशाखा के साथ वार्तालाप के बाद उन आगन्तुकों को उसके अनिंद्य सौन्दर्य, लावण्य के साथ-साथ चातुर्य एवं वचन-माधुर्य का भी पता चला। वे सन्तुष्ट हुए। फिर मृगार श्रेष्ठी के पुत्र के लिए विशाखा की याचना हुई और बड़ी धूमधाम के साथ पाणिग्रहण हुआ।

धनंजय श्रेष्ठी ने विशाखा को प्रचुर धनसामग्री दहेज में दी। धम्मपद अट्ठकथा के अनुसार वह सामग्री पचपन सौ गाडों में भरी गई। पन्द्रह सौ गाडों में तो केवल खेती का ही सामान था। एक बहुमूल्य आभूषण 'महालता प्रसाधन' भी श्रेष्ठी ने दहेज में दिया, जिसका मूल्य नौ करोड़ स्वर्णमुद्रा था।

धनंजय ने पति-गृह को जाती हुई कन्या को दस बहुमूल्य शिक्षाएँ दीं :

१. घर की आग बाहर नहीं ले जानी चाहिए।
२. बाहर की आग घर में नहीं लानी चाहिए।
३. देने वाले को ही देना चाहिए।
४. न देने वालों को नहीं देना चाहिए।
५. देने वालों को एवं न देनेवालों को भी देना चाहिए।
६. सुख से बैठना चाहिए।
७. सुख से खाना चाहिए।
८. सुख से लेटना चाहिए।
९. अग्नि की तरह परिचरण करना चाहिए।
१०. घर के देवताओं को नमस्कार करना चाहिए।

मृगार श्रेष्ठी ने भी धनंजय की ये शिक्षाएँ सुनी, पर वह उनका कोई तात्पर्य नहीं समझ सका। बहुत समय बाद एकबार मृगार श्रेष्ठी ने विशाखा से पिता की इन बातों का तात्पर्य पूछा तो विशाखा ने बताया—"पहली बात से अभिप्राय है, घर के कर्मकरों आदि की गलतियों को बाहर दूसरों के समक्ष नहीं कहना चाहिए, इसी

प्रकार बाहर के झगड़े-कलह आदि की चर्चा घर में नहीं करनी चाहिए।

'देने वालों को देना चाहिए, नहीं देने वालों को नहीं देना चाहिए'—इसका भाव मंगनी को लक्षित करके है। अर्थात् जिस कुल की कन्या ली जाती है, उन्हीं कुलों को कन्या आदि देना चाहिए। 'न देने वालों को भी देना चाहिए'—इसका भाव है जाति-मित्रों में चाहे कोई गरीब हो या अमीर, प्रतिदान देने में समर्थ हो या न हो, पर सबको ही उदार भाव से देना चाहिए। 'सुख से बैठना चाहिए' का तात्पर्य है सास-श्वसुर आदि के बैठने के स्थान पर नहीं बैठना चाहिए ताकि पुनः उठना पड़े। अपने योग्य स्थान पर बैठना चाहिए। 'सुख से खाना चाहिए' का अभिप्राय है—सास, श्वसुर, पति. बालक आदि के भोजन कर चुकने के पश्चात् भोजन करना। 'सुख से लेटना चाहिए' का अर्थ है—सास, श्वसुर एवं पति के शयन करने के पश्चात् शयन करना। 'अग्नि की तरह परिचरण करना चाहिए'—इससे तात्पर्य है सास-श्वसुर, पति एवं वृद्धजनों आदि को अग्नि की भाँति पूज्य समझना चाहिए और 'घर के देवताओं को नमस्कार करना चाहिए'—का तात्पर्य है—घर पर आये अतिथि, प्रव्रजितों आदि को उत्तम भोज्य पदार्थ समर्पित करना चाहिए।"

मृगार श्रेष्ठी विशाखा के ये उत्तर सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ।

एकबार विशाखा अलंकारों से विभूषित होकर विहार में तथागत के दर्शन करने गई। वहाँ उसने अपने आभूषणों के साथ 'महालता प्रसाधन' भी उतार कर दासी को दिया, कि—"शास्ता के पास से लौटते समय मैं इन्हें पहनूंगी।" धर्मोपदेश सुनकर लौटते समय दासी उन आभूषणों को विहार में ही भूल गई। परिषद् के चले जाने पर स्थविर आनन्द ने महालता प्रसाधन को वहाँ पड़ा देखा, तो उन्होंने बुद्ध को सूचना दी। उनके संकेत पर उन्हें एक ओर रख दिया गया। उधर जब विशाखा ने आभूषण मांगे तो दासी को अपनी भूल याद आई। विशाखा ने दासी को घबराई देखकर आश्वस्त किया और कहा—"जा, उन्हें ले आ, पर ध्यान रखना, यदि स्थविर आनन्द ने उन्हें उठाकर कहीं एक ओर रख दिये हों तो मत लाना।"

दासी आराम में आई। आनन्द ने दासी के आने का अभिप्राय समझ लिया और एक ओर पड़े प्रसाधन की ओर संकेत किया।

दासी यह कहती हुई लौट गई कि—"आपके हाथ से छू जाने पर अब ये आभूषण मेरी स्वामिनी के पहनने योग्य नहीं रहे।" विशाखा ने उस महालता प्रसाधन को आर्य के चरणों में ही समर्पित कर दिया।

महालता प्रसाधन को वेच कर उस मूल्य से 'विहार' बनवाने के विचार से विशाखा ने उस महालता प्रसाधन को बाजार में भेजा। वहाँ नौ करोड़ उसका मूल्य एवं एक लाख बनवाई आँकी गई, पर इतनी बड़ी राशि देकर खरीदने वाला कोई नहीं मिला, तो विशाखा ने स्वयं ही खरीद लिया। उसके मूल्य से नौ करोड़ में भूमि खरीदी, फिर उस पर नौ करोड़ रुपया खर्च कर एक विशाल विहार का निर्माण करवाया। तथागत बुद्ध जब वहाँ चातुर्मास प्रवास के लिए आये तो विशाखा ने उस समय बहुत बड़ा उत्सव किया। इस उत्सव पर भी नौ करोड़ खर्च किए गए—इस प्रकार एक विहार-निर्माण में सत्ताईस करोड़ खर्च किए।

एकबार भगवान् बुद्ध को प्रसन्नमुद्रा में देखकर विशाखा ने उनसे कुछ वर मांगने की अनुमति ली। बुद्ध की अनुमति मिलने पर उसने आठ वर मांगे—

१. मैं यावज्जीवन संघ को वर्षा की वर्षिक साटिका देना चाहती हूँ।
२. मैं यावज्जीवन नवागंतुकों को भोजन देना चाहती हूँ।
३. मैं यावज्जीवन गमिकों (प्रस्थान करने वालों) को भोजन देना चाहती हूँ।
४. मैं यावज्जीवन रोगी को भोजन देना चाहती हूँ।
५. मैं यावज्जीवन रोगी-परिचारक को भोजन देना चाहती हूँ।
६. मैं यावज्जीवन रोगी को औषधि दान करना चाहती हूँ।
७. मैं यावज्जीवन संघ को प्रातःकाल यवागू देना चाहती हूँ।
८. मैं यावज्जीवन भिक्षुणीसंघ को उदग-साटिका देना चाहती हूँ।

विशाखा की उदार सेवापरायण भावना को जान कर तथागत अत्यन्त प्रसन्न हुए।

विशाखा प्रतिदिन विहार में घूमती और आगंतुकों, गमिकों, रोगो

आदि भिक्षुओं की संभाल लेती, उनकी परिचर्या की सब योग्य व्यवस्था करती। इस सेवा से अत्यन्त प्रमोद एवं उत्साह का अनुभव करती।[1]

आदर्श :

श्रमण संस्कृति के इन चार महान् उपासक-गृहस्थों के जीवन की दिव्यता आज भी इस संस्कृति के गौरव को दीप्त कर रही है। यद्यपि ऐसे आदर्श गृहस्थों की एक लम्बी परम्परा इस संस्कृति के काल-प्रवाह के साथ चलती आरही है, न केवल महावीर एवं तथागत के युग में ही, अपितु उत्तरवती काल में भी इस संपूर्ण विषय का कालक्रम से आलेखन एक विशाल ग्रन्थ का रूप ले सकता है, जिसकी सामग्री अपने आप में एक रोचक प्रेरणा प्रद तथा नवीनता लिए होगी। पर, प्रस्तुत में हम जिन चार उपासकों की चर्चा कर चुके हैं वे, उनके जीवन के चार विभिन्न भाव-वाही आदर्श हमारे समक्ष उजागर हो रहे हैं।

गाथापति आनन्द का जीवन एक सुखी-सम्पन्न गृहस्थ का जीवन है। उसका आदर्श है—शुद्ध आजीविका के द्वारा अर्थोपार्जन ! और अनावश्यक अर्थ का समाज एवं राष्ट्र के लिए विसर्जन ! इच्छाओं का परिसीमन, आवश्यकताओं का संयमन एवं जीवन को संयम, त्याग तथा तपस्या की धारा में बहाकर परमार्थ की ओर अग्रसर करना। गाथापति आनन्द का आदर्श कठोर त्याग एवं आत्म-संयम की प्रेरणा दे रहा है। वह धर्म को न सिर्फ शास्त्रों का शृङ्गार समझता है, अपितु उसे जीवन का शृङ्गार बनाता है और उस धर्माचरण में बड़ी दृढ़ता के साथ बढ़ता चला जाता है। अपार सम्पत्ति पर से उसने अपना स्वामित्व हटा लिया, उसे समाज के उपयोग के लिए मुक्त कर दिया। यह श्रमण संस्कृति का समाजवादी दर्शन है, आज से पच्चीससौ वर्ष पुराना।

सुलसा—धर्मश्रद्धा एवं स्थितप्रज्ञता की मूर्ति है। धर्म का सार उसके जीवन के कण-कण में छलकता दिखाई दे रहा है। भौतिक समृद्धि में भी मन के आन्तरिक अभाव कभी-कभी हृदय को उद्वे-

---

१. विनयपिटक, महावग्ग ८-४-५ के आधार पर।

लित करते रहते हैं। सुख-दुख के प्रसङ्ग शान्तिभङ्ग कर जाते हैं, पर ऐसे संकटमय क्षणों में, उद्विग्नता के प्रसंगों में भी मन की प्रसन्नता, शान्ति एवं धैर्य बनाए रखना—यही श्रमण संस्कृति की समता का संदेश है।

गृहपति अनाथपिण्डिक, जो आठ करोड़ मुद्रा खर्च करके एक आराम का निर्माण करवाता है, उसकी समृद्धि का कोई लेखा-जोखा क्या लगाएगा? पर उसके मन में धर्म एवं सङ्घ के लिए सर्वस्व निछावर करने की कितनी उग्र भावना है और किस प्रकार अपनी सम्पत्ति का सदुपयोग करता है—यह एक आदर्श संकेत है।

विशाखा मृगार माता का जीवन तो सर्वथा एक अद्भुत नारी का गौरवपूर्ण जीवन है। वह गृहलक्ष्मी जहाँ जाती है, अपार लक्ष्मी की वर्षा कर रही है। उसकी उदारता को कौन नाप सकता है। जिसने बात की बात में नौ करोड़ का महालता प्रसाधन भिक्षु सङ्घ को सेवार्थ समर्पित कर दिया। जिसने सङ्घ के लिए सत्ताईस करोड़ खर्च करके एक आराम का निर्माण करवाया और फिर भी निस्पृहता, सेवापरायणता इतनी कि वह भगवान् से वर मांगती है—"यावज्जीवन रुग्ण जनों की, अन्न, औषधि आदि से सेवा करती रहूँ।" वह स्वयं विहार में घूम-घूम कर रोगियों की परिचर्या करती है, अतिथियों की सेवा करती है और सेवा करके मन में प्रसन्नता का अनुभव करती है। सेवा का यह महान् आदर्श ही श्रमण संस्कृति का प्राणतत्त्व है। ● ● ● ●

इस प्रकार के आदर्श उपासकों की सैकड़ों जीवन घटनाएँ श्रमण संस्कृति के निर्माण और विकास की स्वतन्त्र कथा है, जो इस संस्कृति के प्रत्येक पृष्ठ पर अङ्कित है।

—श्री श्रीचन्द सुराना 'सरस'

★

११

श्रमण संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में

वर्णाश्रम व्यवस्था का विवेचन

जीवन को संस्कारित करना, मन को अच्छी तरह से मोड़ देना तथा विचारों का परिमार्जन करना, यही है संस्कृति का सीधा अर्थ। समताभाव से श्रमण होता है[1] तथा तप से, ब्रह्मचर्य से, सयम से और इन्द्रिय दमन से ब्राह्मण होता है, यह ब्राह्मण्य उत्तम होता है[2]। ऐसी है श्रमण और ब्राह्मण संस्कृति।

आज तक इस विशाल धरती पर समय की आवश्यकता से भगवान् आदि प्रभु, श्रीकृष्ण, महावीर, बुद्ध, यीशू महम्मद, जरथ्रुष्ट, आदि अनेक द्रष्टाओं ने मानवों में मानवता पैदा हो और मानव जाति समृद्ध हो, इसलिए कहा—'मुझे अंधकार से प्रकाश की ओर, असत्य से सत्य की ओर और मृत्यु से अमरता की ओर ले चलो।[3] हम मिलकर चलें, मिलकर बोलें, मिलकर काम करें और सदा मिलकर ही रहें तथा अपनी संस्कृति के पावन आदर्श 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का निर्माण करें। वैसे ही दुराचरणों का त्याग कर, सदाचारों को अंगीकार कर, आत्मोन्नति के साथ स्वयं परमात्मा बनें, यही इन द्रष्टाओं का दिव्य संदेश है।

लेकिन वेद को अपौरुषेय मानकर वेदप्रमाण ग्रन्थों में चातुर्वर्ण की निर्मिति कही है—ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से निर्मित हुए, इसलिए यजन-याजन उनका पवित्र कार्य माना गया है। क्षत्रिय उनके बाहु

---

१. समयाए समणो होइ। —उत्तरज्झयणसुत्त २५-३८

२. तपेन ब्रह्मचरियेन संयमेन दमेन च।
एतेन ब्राह्मणो होति एतं ब्राह्मणमुत्तमं॥ —सुत्तनिपात ३-९-६२

३. तमसो मा ज्योतिर्गमय। असतो मा सद्गमय। मृत्योर्मामृतम् गमय।

से उत्पन्न हुए, इसलिए शत्रु से युद्ध कर गो-ब्राह्मणों की रक्षा करना उनका आद्य कर्त्तव्य हुआ। उसके उदर से वैश्य की उत्पत्ति होने से व्यापार के द्वारा राष्ट्र को समृद्ध करना उनका उद्योग बना। तथा शूद्र का उसके पावों से निर्माण हुआ, इसलिए रास्ता साफ करना, आदि नीच माने गए काम करके तथाकथित उच्चवर्णों की सेवा करना, यही काम उनके सिर पर पड़ा।

यह चातुर्वर्ण की उत्पत्ति यद्यपि बुद्धिग्राह्य नहीं, तो भी मनुष्य जो व्यवसाय करते हैं उसके अनुसार उनको ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि कहा गया।

प्राचीन ऋषि (ब्राह्मण) संयतात्मा और तपस्वी थे। वे पंचेन्द्रिय-विषयों का त्याग कर आत्मार्थ चिंतन करते थे।[४] लेकिन इसके बाद राजा का द्रव्य और अलंकृत स्त्रियाँ देखकर ब्राह्मणों की दृष्टि पलट गई।[५] गायों तथा सुन्दर स्त्रियों के बारे में वे लालायित होने लगे।[६] इस इच्छापूर्ति के लिए उन्होंने मन्त्रों की रचना की। वे राजा इक्ष्वाकु के पास जाकर कहने लगे—'आपके पास बहुत धन-धान्य है, आप यज्ञ करें।'[७]

जिस मात्रा में राजाओं से धन, स्त्री आदि भोगोपभोग मिलने लगे, उसी मात्रा में उनकी इच्छा और ज्यादा बढ़ने लगी। धर्मग्रन्थों में परिवर्तन होने लगे। इस तरह चातुर्वर्ण्यव्यवस्था स्वार्थ और भोग-लालसाओं में से उद्भूत हुई। माता और पिता के दोनों कुल से शुद्ध होने के कारण जिसका जन्म पवित्र माना गया और सात पीढ़ी तक जिसके कुल को जातिप्रवाद दोष न लगा हो, वही ब्राह्मण ठहरा।[८]

---

४. इसयो पुब्बका आसु सञ्ञतत्ता तपस्सिनो।
पञ्च कामगुणे हित्वा अत्तदत्थम चारिसुं ॥ —सुत्तनिपात २-७-१

५. तेसं आसि विपल्लासो दिस्वान अणुतो अणुं।
राजिनो च वियाकारं नारियो समलंकता ॥ —सुत्तनिपास २-७-१६

६. गोमण्डलपरिबुब्ळ्हं नारीपदगणायुतं।
उदारं मानुसं भोगं अभिजूनायिसु ब्राह्मणा ॥ —सुत्तनिपात २-७-७५

७. ते तत्थ मन्ते गन्थत्वा ओक्काकं तदुपागमुं।
पहूतधनधञ्ञोऽसि यजस्सु बहु ते धनं ॥ —सुत्तनिपात २-७-९२

८. यतो खो उभतो सुजातो होति मातितो च पितितो च, संसुद्धगहणिको याव सत्तमा पितामहयुगा अक्खित्तो अनुपक्कुट्ठो जातिवादेन, एत्तावता खो ब्राह्मणो होतीति। —सुत्तनिपात ३-९

लेकिन श्रमणसंस्कृति के उन्नायक भ० महावीर तथा भ० गौतम बुद्ध—इन दोनों ने इस स्वार्थी चातुर्वर्ण का कठोर विरोध किया। वे जनता में जाकर उनकी बोली—प्राकृत भाषा में जीवन के सत्य-स्वरूप का स्पष्ट उद्घोष करने लगे।

"मैं उत्तम ब्राह्मण हूँ, मैं वैश्य हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं इसके अलावा (शूद्र) हूँ। पुरुष हूँ, नपुंसक हूँ, स्त्री हूँ;' इसी तरह वह मूर्ख शरीर-भावों को अपना मानता है। तथा युवक, बूढ़ा, रूपवान, शूर, पण्डित, सर्वश्रेष्ठ, दिगंबर, श्वेताम्बर, बौद्धमताचार्य, आदि सब शरीरभेदों को वह मूर्ख अपना मानता है।[९]

अपने कर्म के अनुसार माता कन्या होती है, कन्या माता बनती है, पुरुष स्त्री होता है, स्त्री पुरुष या नपुंसक बनती है। प्रतापी, सत्ताधीश, बलवीर्य तथा रूप, गुणसम्पन्न राजा होकर भी वह पाखाना में कृमिकीट बनता है।[१०]

भगवान् बुद्ध, भारद्वाज और वसिष्ठ शिष्यों को यथार्थता से प्राणियों का जातिविभाग समझाते हुए कहते हैं—'आप घास और पेड़ों को देखो। उनका जातिविशिष्ट आकार है।[११] यही स्थिति कीट, पतंग, चींटियाँ, चतुष्पाद प्राणी, पेट से चलने वाले साँप, पानी के जलचर जीव, आकाश में भ्रमण करने वाले अलग-अलग पंछी, इनके भी जातिविशिष्ट आकार हैं। क्योंकि उन सबमें भिन्न-भिन्न जातियाँ हैं। लेकिन मनुष्य के शरीर में इस प्रकार के जाति-विशिष्ट विभिन्न आकार नहीं दिखाई देते। शूद्र के मस्तक

---

९. हउं वरु बंभणु वइसु हउं हउं खत्तिउ हउं सेसु।
पुरिसउ णउंसउ इत्थि हउं मण्णइ मूढ़ विसेसु।।
तरुण बूढ़उ रूयडउ सूरउ पंडिउ दिव्वु।
खवणउ वंदउ सेयडउ मूढउ मण्णइ सव्वु।।
—श्री योगिन्दुदेवविरचितः परमात्मप्रकाशन ८१-८२

१०. मादा य होदि धूदा धूदा मादुत्तणं पुण उवेदि।
पुरिसो वि तत्थ इत्थी पुमं च अपुमं च होदि जए।।२६।।
होऊण तेयसत्ताधिओ दु बलवीरियरूवसंपण्णो।।
जादो वच्चघरे किमि धिगत्थु संसारवासस्स।।२७।।
—श्रीमद्वट्टकेराचार्यविरचित मूलाचारः—द्वादशानुप्रेक्षाधिकारः

११. सुत्तनिपात, ३-९-८६ १२. ३-९-६ से १३; १३-३-९-१४

पर नन्दी का शींग नहीं या ब्राह्मण के मस्तक पर महादेव की पिंड नहीं।[१२] मानवजाति का यह भेद सिर्फ व्यवहार के कारण प्रचलित है। गोपालन पर उपजीविका करने वाला मनुष्य किसान है,[१३] व्यापार से उपजीविका करने वाला बनिया है,[१४] चोरी से उपजीविका करने वाला चोर है,[१५] धनुर्विद्या से उपजीविका करने वाला योद्धा है,[१६] ग्राम और राष्ट्र पर अधिकार रखने वाला राजा है।[१७]

जिस तरह जल में उत्पन्न हुआ कमल जल से गीला नहीं होता, उसी तरह वैषयिक सुखोपभोगों से जो अलिप्त रहता है. उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।[१८] पानी में कमलपत्र की तरह और आग के अग्रभाग पर सरसू की तरह जो विषयोपभोगों में लिप्त नहीं होता, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।[१९] इसी तरह जिसने ज्ञाति-बांधवों का पूर्व-सम्बन्ध तोड़ दिया है, जो रति-अरति छोड़कर शांत हुआ है, जो इहलोक और परलोक के बारे में अनासक्त बना है, जिसकी तृष्णा और भववासना नष्ट हुई है, जो उपजीविका के लिए भविष्य-कथनादि का उपयोग नहीं करता, मधु-मक्खी की तरह अन्यों को पीड़ा न देते हुए गृहस्थियों से जो शुद्धाहार पाता है, भूख, प्यास, धूप, शीत आदि की पीड़ा जो शान्तभाव से सहता है, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इन महाव्रतों का दक्षता से पालन कर उग्र तप से जो कर्ममल को दग्ध करता है, वही सच्चा ब्राह्मण है।[२०]

भगवान् बुद्ध को वादविवाद में पराजित करने के लिए पाँच सौ ब्राह्मणों का प्रतिनिधि बनकर अश्वलायन श्रावस्ती में गया। 'ब्राह्मण ही सर्वश्रेष्ठ है' यह सिद्ध करने के लिए वह भगवान् बुद्ध से वाद-विवाद करने लगा। यह प्रसंग बहुत दिलचस्प है।

---

१२. लक्ष्मीबाई त्रिकक यांची 'स्मृतिचित्ते'।

१३. सुत्तनिपात, ३-९-१९; १४. ३-९-२१; १५. ३-९-२३; १६. ३-९-२४; १७. ३-९-२६।

१८. जहापोमं जले जायं नोवलिप्पइ वारिणा।
एवं अलित्तं कामेहिं तं वयं बुम बाहणं॥ —उत्तराध्ययन २५-२७

१९. वारि पोक्खरपत्ते व आरग्गेरिव सासपो।
यो न लिप्पति कामेसु तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ —सुत्तनिपात ३-९-३२

२०. उत्तराध्ययन सूत्र, २५-१८ से ८९ और सुत्तनिपात ३-९-२७ से ५४।

अश्वलायन—हे गौतम, ब्राह्मण ही सर्वश्रेष्ठ हैं, शेष सब हीन हैं, इसलिए ब्राह्मण शुद्ध हैं; क्योंकि वे ब्रह्मा के मुँह से निर्मित उसके उत्तराधिकारी पुत्र हैं।

भ० बुद्ध—अन्य स्त्रियों की तरह ब्राह्मणों की स्त्रियाँ भी ऋतुमती होती हैं। अन्यों की तरह वे भी संतान को जन्म देती हैं, तो ब्राह्मणों में ऐसी कौनसी विशेषता है ?

अश्वलायन—तो भी ब्राह्मण स्वर्ग के अधिकारी हैं, वैसे अन्य कोई नहीं।

भ० बुद्ध—तब प्राणहत्या, मृषावाद, चोरी, व्यभिचार, सुरापान, मांसाशन आदि दुराचारों से अन्य वर्ण की तरह क्या ब्राह्मण नरक में नहीं जाते ?

अश्वलायन—जाते तो हैं। लेकिन वे धर्मात्मा हैं, यह विशेष बात है।

भ० बुद्ध—इन पापाचरणों का त्याग सिर्फ ब्राह्मण ही कर सकते हैं, अन्य कोई करते नहीं, ऐसी तो बात नहीं न ?

अश्वलायन—नहीं, नहीं। त्याग सब करते हैं। पर ब्राह्मण सन्तानों में वंशपरम्परा की विशेषता प्रकट होती है।

भ० बुद्ध—घोड़ी और गधा से जैसा खच्चर पैदा होता है, वैसे ब्राह्मणी और शूद्र के सम्बन्ध से क्या अन्य किसी प्राणी की निर्मिति होती है ?

अश्वलायन—ऐसी बात नहीं। लेकिन ब्राह्मणों में संस्कारविधि का अन्तर है।

भ० बुद्ध—जिसके उपनयनादि संस्कार हुए हैं, ऐसा ब्राह्मण पापी, दुराचारी हो और जिस पर कोई भी संस्कार नहीं हुए, ऐसा शूद्र सदाचारी पुण्यात्मा हो, तो किसको महत्त्व देना चाहिए ?

अश्वलायन—सदाचारी पुण्यात्मा को।

अश्वलायन ब्राह्मण ज्ञानी और विवेकी था। 'आचार से ही मनुष्य शुद्ध-अशुद्ध होता है,—भगवान् का यह कहना उसने मान लिया और वह उनका उपासक बना।[२१]

---

२१. मज्झिमनिकाय—अस्सलायनसुत्त—८३।

मनुष्य जन्म से न ब्राह्मण होता है न अब्राह्मण।[२२] वह कर्म से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र होता है।[२३]

श्रमण संस्कृति के ऊपर दिये गये सूत्रों से ही श्वपाक जाति का हरिकेशिवल [२४] आत्मोन्नति के लिए मुनि वना। चित्रसंभूत[२५] नामक चांडाल युवकों ने मुनि वनकर आत्मकल्याण किया। यशोज[२६] केवट कुल का था, सोपाक[२७] चांडाल था, उपालि[२८] नाई था और सुनीत[२९] भंगी था। वैशाली की नगरवधू आम्रपाली[३०] भ. बुद्ध के उपदेश से थेरी वनी। स्थूलिभद्र ने अपनी पूर्व आयुष्य की प्रिया कोशा गणिका[३१] को भ. महावीर के आचार-प्रधान उन्नत पथ पर अग्रसर किया। स्वचडंदी वसुदत्ता[३२] कंटकार्या वनी। घर के नौकर के साथ जाने वाली पटाचारी[३३] जो पगली होगई थी, वह भ. बुद्ध के उपदेश से भिक्षुणी वनी। कुवेरसेना गणिका के उदर में से पैदा हुए कुवेरदत्त और कुवेरदत्ता [३४] कर्म की विचित्रता देखकर मुनि और आर्यिका वने। निर्लज्ज वेश्या विमला[३५] आर्य महामोगाल्लायन के उपदेश से उपासिका तथा भिक्षुणी वनी।

श्रमण संस्कृति के दिए हुए विशाल सदाचारी कर्म शिक्षा के उपदेशों से हीन, शूद्र, पातकी ऐसे अनेक जीवों का उद्धार हुआ। वैसे ही चातुर्वर्ण पर ही निर्धारित तथाकथित ब्राह्मण संस्कृति की ओर देखा जाए, तो विभिन्न जातियों में महान् विभूतियाँ हुई हैं और हो रही हैं, यह दिखाई देता है। ब्राह्मणों में द्रोणाचार्य के समान योद्धा हुए। क्षत्रिय कुलोत्पन्न जनक राजा ब्रह्मज्ञानी थे। पाराशर से उत्पन्न

---

२२. न जच्चा ब्राह्मणो होति न जच्चा होति अब्राह्मणो। —सुत्तनिपात ३-९-३७

२३. कम्मुणा वंभणो होइ कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होइ सुद्दो हवइ कम्मुणा॥ —उत्तराध्ययनसूत्र २५-२३

२४. उत्तराध्ययन १२; २५. सुखवोधा ब्रह्मदत्त कहा १३; २६. थेरगाथा १७;
२७. थेरगाथा २७; २८. थेरगाथा १८०; २९. थेरगाथा २४२।
३०. थेरीगाथा ६५, ३१. कुमारपाल प्रतिबोध—स्थूलिभद्रकथा।
३२. वसुदेवहिंदी (भा० १); ३३. थेरीगाथा ४७; ३४. जंवुकुमार चरियं;
३५. थेरीगाथा ३९।

मलाहिन के पुत्र व्यास महान् ऋषि कहलाए। पथिकों को लूटने वाला बाल्या डाकू वाल्मीकि ऋषि बना।

मानवता का सही निर्माण करके मानव जाति को सम्पन्न बनाने का ही अनेक द्रष्टाओं का उद्देश्य रहा है। लेकिन उनके स्वार्थी अनुयायियों ने जन्म पर ही जाति धर्म को निर्भरित समझ कर आपस में द्वेषभाव का निर्माण किया। धर्म के नाम पर मानवी रक्त की नदियाँ बहायी गईं और आज भी बह रही हैं। ऐसी स्थिति मानवों में सच्ची मानवता का निर्माण करने के लिए निम्नलिखित वचन को मन-वचन-काया से अङ्गीकार करना होगा :

"वास्तविक वैर से वैर कभी नहीं बुझता, प्रेम से ही शान्त होता है। यही शाश्वत धर्म है।"[३६]

—डा. माधव श्री रणदिवे

३६. धम्मपद ७-५।

१७
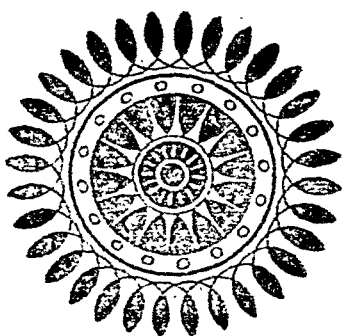
श्रमण संस्कृति : परम्पराएँ तथा आधुनिक युगबोध

डाक्टर वैजनाथपुरी ने संस्कृति तथा सभ्यता के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि संस्कृति आभ्यन्तर है तथा सभ्यता वाह्य। संस्कृति का सम्बन्ध निश्चय ही धार्मिक विश्वास से है। हमारे देश में दो संस्कृति मुख्य रही हैं (१) श्रमण संस्कृति, (२) ब्राह्मण संस्कृति। यह निर्विवाद है कि ब्राह्मण संस्कृति में यज्ञयाग तथा तज्जनित हिंसा कर्मकाण्ड जन्मना जाति तथा वर्ण का प्राधान्य था। तथा श्रमण संस्कृति में यज्ञ याग का कर्मकांड के रूप में कोई अलग से प्रावधान नहीं था, अपितु यज्ञ का तात्पर्य आत्मलक्ष्य किया जाता था। इस कारण यज्ञ से सम्बधित हिंसा तथा कर्मकाण्ड का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता था, किसी भी वर्ण या जाति के उच्च-नीच का प्रश्न उसके कर्मों से निश्चित होने का प्रावधान था। तात्पर्य यह है कि श्रमण संस्कृति जैन तथा बौद्ध धर्म से प्रभावित थी तथा ब्राह्मण संस्कृति वेद-वेदांग से। जैन साहित्य में "श्रीमद आचारांग सूत्र" का महत्त्वपूर्ण स्थान है जो भाषाशास्त्रियों के मत से प्राचीनतम कृति है। उसमें बताया गया है कि "जितने तीर्थङ्कर पूर्व में हुए हैं अथवा भविष्य में होंगे, वह सब यही कहते हैं कि सभी प्राणी, सभी भूत, सभी सत्वों को दण्डादि से नहीं मारना चाहिए, उन पर आज्ञा नहीं चलाना चाहिए, उनको दास की भाँति अपने अधिकार में नहीं रखना चाहिए। उनको शारीरिक, मानसिक संताप नहीं देना चाहिए, न उन्हें प्राणों से रहित करना चाहिए। यही धर्म शुद्ध, नित्य तथा शाश्वत है।"

जैसा कि ऊपर कहा गया है श्रमण संस्कृति जैन तथा बौद्ध धर्म से अनुप्राणित रही है, जैन धर्म वास्तव में किसी विशेष प्रकार के कर्मकाण्ड तथा रूढ़ियों के पालन का नाम नहीं है। अपितु जैन धर्म मानव ही नहीं, समस्त प्राणिजगत् के उद्धार का मार्गदर्शक है।

मानव आत्मा के स्वाभाविक गुणों का विकास करके मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करता है। इस कारण उसे विशिष्ट नाम से सम्बोधित किया जाना उचित नहीं है। लेखक के मत में प्रागैतिहासिक काल में उसका कोई विशेष नाम भी नहीं था। उसे "आत्म धर्म" कहा जाता था। किन्तु पश्चात्वर्ती युग में उसे "निर्ग्रंथ धर्म" कहा जाने लगा और बाद में इस कारण कि उसके उपदेष्टा "जिन" थे अतः उसका "जैन धम' नामकरण हो गया। जो भी हो, इतना स्पष्ट है कि वह अनादि, अनन्त है। मानव-समाज तथा सृष्टि अनादि है, इसलिए यह "आत्म धर्म" भा अनादि है। फिर भी उपलब्ध जैन साहित्य पर से श्रमण संस्कृति की परम्परा के सूत्र देखने होंगे। वर्तमान के चौवीस तीर्थंकर (जिन) में सबसे पहले ऋषभदेव का नाम आता है, जो समाज व्यवस्था का सूत्रपात करने वाले प्रथम राजा, प्रथम जिन तथा प्रथम धर्मोपदेष्टा थे। जैन मान्यता कें अनुसार १४ कुलकर तथा वैदिक मान्यता के अनुसार १४ मनु होते हैं। इसमें अंतिम "नाभिराय" थे। (चाहे इन्हें कुलकर कहा जाए या मनु किन्तु दोनों मान्यता में नाभिराय सामान्य है) उनके पुत्र ऋषभदेव हैं, यह युग-इतिहास की पहुँच के परे हैं, किन्तु श्री मद्भागवत के अनुसार ऋषभदेव (नाभिराय के पुत्र) मोक्ष मार्ग के उपदेशक के रूप में प्रसिद्ध थे। उन्हें वासुदेव का अष्टम अवतार माना गया है। ब्राह्मण परम्परा के अन्य साहित्य में भी उनका उल्लेख उच्च कोटि का है। मोटे तौर पर श्रमण संस्कृति का उद्‌गम ऋषभ देव से कहा जा सकता है। उसके पश्चात् के २० तीर्थंकरों के सम्वन्ध में विस्तृत माहिति नहीं मिलती। किन्तु २२वें तीर्थंकर अरिष्टनेमि (नेमीनाथ) श्रीकृष्ण के चचेरे भाई थे और उनका उल्लेख ऋग्वेद में आता है। यूरोपीय कई विद्वानों ने विशेषकर मैक्समूलर[1] ने भ. पार्श्वनाथ तथा महावीर की ऐतिहासिकता स्वीकार की है।

तात्पर्य यह है कि यह सब महापुरुष श्रमण संस्कृति के उन्नायक रहे हैं।

---

1. That Parshva was a historical person is admitted by all as very probably.

—"Sacred book of the east," Vol XLV-Introduction, Page 21.

जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, ब्राह्मण संस्कृति का मूल आधार यज्ञ-यागादि था, जिसको सम्पन्न करने के लिए पशु हिंसा आवश्यक मान ली गई थी। ब्राह्मणों के द्वारा यज्ञ सम्पन्न होते थे। यज्ञ में पशु हिंसा को हिंसा न माने जाने का प्रावधान कर दिया गया—(वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति)। यज्ञों के लिए कृषि योग्य पशु होम दिये जाते थे। परिणाम यह हुआ कि देश का कृषक वर्ग दु:खी हो गया। यज्ञकर्त्ता राजा अपने सैनिकों के द्वारा कृषि—उपयोगी पशु पकड़वा कर मंगा लेता और यह अमानवीय कृत्य ब्राह्मणों के निर्देश तथा इशारे पर होता था। परिणामतः जनमानस में ब्राह्मणों के सम्बन्ध में क्षोभ बढ़ गया। यह सत्य है कि जिन ब्राह्मणों के विरुद्ध जन-मानस में क्रोध, क्षोभ बढ़ा, वह ब्राह्मण संस्कृति के हामी थे। किन्तु ऐसे भी कई विचारक ब्राह्मण थे, जो जन्मना ब्राह्मण होते हुए भी श्रमण संस्कृति के हामी थे या हामी हो गये थे। भगवान् महावीर के ११ प्रमुख शिष्य (गणधर) स्वयं ब्राह्मण थे। जो श्रमण संस्कृति के केवल हामी ही नहीं, अपितु पुरस्कर्ता थे। यह स्पष्ट है कि वेद-कालीन ब्राह्मण संस्कृति निवृत्तिगामी नहीं थी, अपितु प्रवृत्तिगामी थी। ऋषि-मुनि अधिकतर गृहस्थ होते थे। उनके द्वारा की हुई प्रार्थ-नाएँ अधिकतर भौतिक समृद्धि के लिए या प्राकृतिक आपत्ति से रक्षा के लिए हुआ करती थी। हम देखते हैं कि उपनिषद्काल में यह क्रम परिवर्तन हो गया। ऋषि-मुनि अध्यात्मप्रधान आत्मविद्या में भी निपुण थे। कई क्षत्रिय तो आत्म-विद्या में इतने प्रवीण थे कि ब्राह्मण उनके पास जाकर शिक्षा प्राप्त करते थे। जैसा कि छांदोग्योपनिषद् में ऋषि-पुत्र श्वेतकेतु और प्रवाहण क्षत्रिय के संवाद से स्पष्ट है। इसी प्रकार वृहदारण्यक उपनिषद् के छठ अध्याय में राजा प्रवाहण ने आरुणी से कहा कि "इसके पूर्व यह अध्यात्म विद्या किसी ब्राह्मण के पास नहीं रही, वह मैं तुम्हें बताऊँगा।" संभवतः यही कारण था कि जन मानस में उस युग में ब्राह्मण वर्चस्व कम हो गया तथा क्षत्रिय वर्चस्व उत्तरोत्तर तरक्की करता गया। जन-मानस ब्राह्मण को आदर की दृष्टि से नहीं देखता था। इसी पृष्ठभूमि में यह धारणा उत्पन्न हुई कि जैन तीर्थंकर का जन्म ब्राह्मण कुल में न होकर क्षत्रिय कुल में होता है। ब्राह्मणपरम्परा में भी वामन तथा परशुराम को छोड़कर सब अवतार क्षत्रिय कुल में ही जन्मे थे।

वेदकालीन परिस्थिति में जहाँ मानव का चिन्तन केवल भौतिक समृद्धि के लिए था, उपनिषद्‌काल में वह चिन्तन कुछ आध्यात्मिक होगया। स्वर्ग आदि के सम्बन्ध में मानव ने चिन्तन तो किया किन्तु फिर भी मानव समाज बड़ी तीव्रता से शांति की खोज में था। उपनिषदकालीन आत्मविद्या से भी उसे सन्तोष नहीं हुआ। मानव समाज का अन्तिम लक्ष्य "मुक्ति" था और वह उसकी प्राप्ति के उपाय की खोज में था। कहना न होगा कि आत्मा मूलतः शुद्ध-बुद्ध है। मौलिक रूप से परमात्मा अथवा साधारण आत्मा की Potentiality में कोई भेद नहीं था। केवल भेद यह था कि एक राग-द्वेष के बन्धन से मुक्त थी तथा दूसरी बंधनयुक्त थी, जैसा कि कहा गया है :—

"शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरञ्जनोऽसि।
संसारमाया - परिवर्जितोऽसि॥"
"सिद्धा जैसा जोव है, जीव सोही सिद्ध होय।
कर्ममैल का अन्तरा, बुझे विरला कोय॥"

प्रश्न यह कि आत्मा राग-द्वेष के बन्धनों से किस प्रकार मुक्त हो। तत्कालीन मानव प्रत्येक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ईश्वर अथवा देवता का अनुग्रह प्राप्त करके इच्छित लक्ष्य पूर्ति का मार्ग जानता था। श्रमण संस्कृति के प्रथम उद्‌गाता भगवान् ऋषभदेव तथा श्रमण संस्कृति के महान् उन्नायक भगवान् महावीर ने यह उद्‌घोष किया कि "मानव ! तुमको किसी ईश्वर या देवता की गुलामी की आवश्यकता नहीं है, स्वयं आत्मा शुभ-अशुभ कर्मों को कर्त्ता है और वही स्वयं बन्धनमुक्त हो सकती है। तुम ही स्वयं के मित्र तथा शत्रु हो।"

"अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पामित्तममित्तं च दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ॥
अप्पा नई वेयरणी. अप्पा मे कूड सामली।
अप्पा काम दुहा धेणू, अप्पा मे नंदणंवणं॥"

तात्पर्य यह है कि भ० महावीर नें प्रवाह के विरुद्ध मानव को उच्चता का घोष किया और उसमें आत्मविश्वास जगाया।

"नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्।"

उन्होंने कर्म के सिद्धान्त का निरूपण किया, तथा स्पष्ट कर दिया कि कर्मफल से संसार का कोई महान् व्यक्ति भी नहीं बच सकता। सुकर्म तथा दुष्कर्म का अन्त होने से हो जीवन्मुक्त अवस्था प्राप्त होती है। यूरोपीय विद्वानों ने श्रमण संस्कृति के उन्नायकों में जिन महापुरुषों को ऐतिहासिकता मानी है, उनमें भगवान् पार्श्वनाथ प्रमुख हैं। उन्होंने आत्मा के कर्मसमूह को नष्ट करने तथा शुभ जीवन व्यतीत करने के लिए "चातुर्याम धर्म" का प्रतिपादन किया। प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् स्व० श्री धर्मानन्दजी कोसाम्बी ने अपनी पुस्तक "पार्श्वनाथ का चातुर्याम" की प्रस्तावना में यह स्वीकार किया है कि "आज जो कुछ श्रमण संस्कृति शेष बची है, उसके आदिगुरु पार्श्वनाथ हैं और बुद्ध के समान यह भी श्रद्धेय हैं।" इसी पुस्तक के पृष्ठ १४ में अङ्कित किया है कि—

"त्रिपिटक में निग्रन्थों का उल्लेख अनेक स्थानों पर हुआ है। उससे ऐसा दिखाई देता है कि निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय बुद्ध से वर्षों पहले से मौजूद था। अंगुत्तरनिकाय में यह उल्लेख पाया जाता है कि वप्प नाम का शाक्य निर्ग्रन्थों का श्रावक था। उस सुत्त की अनुकथा में यह कहा गया है कि यह वप्प बुद्ध का चाचा था। अर्थात् यों कहना पड़ता है कि बुद्ध के जन्म के पहले या उनकी छोटी उम्र में ही निर्ग्रन्थों का धर्म शाक्य देश में पहुँच गया था। महावीर स्वामी बुद्ध के समकालीन थे। अतः यह मानना उचित होगा कि यह धर्मप्रचार उन्होंने नहीं बल्कि उनके पहले के निर्ग्रन्थों ने किया था।"

श्रमण संस्कृति के पुरस्कर्ता भगवान् महावीर तथा उनके समकालीन शाक्य पुत्र गौतम बुद्ध तो थे ही किन्तु लगभग छठी शताब्दी में रचित निशीथ चूर्णि में श्रमणों में निर्ग्रन्थ, शाक्य, तापस, गैरिक, आजीवकों की गणना भी की गई है। आजीवक सम्प्रदाय भगवान् महावीर के समय में भी मौजूद था और यह कहा जाता है कि निर्ग्रन्थ धर्म तथा आजीवक सम्प्रदाय के आचार एक-दूसरे के निकट थे। हालाँकि जैन साहित्य में गोशालक को निह्नव बताया गया है और त्रिराशिवाद को छठा निह्नवमत अङ्कित किया गया है। इसके अनुयायियों को आजीवक मत का अनुकर्त्ता बताया गया है। इसके प्रतिष्ठाता कल्पसूत्र के अनुसार आर्य महागिरि के शिष्य रोहगुप्त थे। गोशालक के अतिरिक्त पूरणकश्यप, अजित केश कम्बल, पकुध

कात्यायन, संजय वेलि पुट्ट भी श्रमण संस्कृति के प्रचारक थे। कुछ विद्वानों का मत है कि यह भी जिन कहलाते थे। लेखक के मत में श्रमण संस्कृति जीवन में सदाचार के उच्चतम नियमों को अङ्गीकार करने पर अधिक जोर देती थी। उसमें सैद्धान्तिक बारीकियों तथा उसमें उत्पन्न उप प्रश्नों का अधिक महत्त्व नहीं माना गया। यही कारण है कि दिगम्वर तथा श्वेताम्वर (जिनमें विस्तार की गई वातों में काफी मतभेद है, फिर भी) दोनों को श्रमण संस्कृति में महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह कितने आश्चर्य का विषय है कि भ०महावीर के युग में साधु नग्न तथा वस्त्रसहित रहते थे, दोनों के आचार में कुछ भेद भी था। चाहे उन्हें जिनकल्पी तथा स्थविर कल्पी कहें, पर दोनों का समावेश भ० महावीर के शासन में था। दोनों आदर तथा श्रद्धा के पात्र थे। वारह वर्षीय दुष्काल के समय कुछ साधु दक्षिण में चले गये तथा कुछ साधु अन्य क्षेत्र में। खेद है, दुष्काल के पश्चात् परस्पर मिलन के समय उच्चत्व तथा निम्नत्व की भावना हुई और दिगम्वर तथा श्वेताम्वर दो परम्परा का आविर्भाव हो गया। वास्तव में यह आश्चर्य का विषय है कि जो निर्ग्रन्थधर्म अनेकान्तवाद का हामी होने के कारण परस्पर विरोधी विचारधाराओं का समन्वय कर सकने का दावा करता था, उसी के अनुयायी २५०० वर्षों में परस्पर के मतभेदों का समन्वय नहीं कर सके। यह सत्य है कि इस लम्बे काल में कई प्रभावशाली आचार्य हुए जिन्होंने दूसरे सम्प्रदाय के प्रति उदारता का भाव रखा और इस प्रकार समन्वय का मार्ग प्रशस्त करने में सहायक हुए, किन्तु उन्हें इसमें सफलता नहीं मिल सकी। यदि हम श्रमण संस्कृति के मुख्य आधारों को लें तो इस निष्कर्ष पर भी पहुँच सकते हैं कि केवल भारतीय धर्म ही नहीं अपितु वाईविल में भी इसी प्रकार के विचार मिलते हैं। वाईविल एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, जिसका प्रभाव केवल पश्चिम जगत् पर ही नहीं अपितु अरव तथा दूसरे इस्लामी देशों पर भी पर्याप्त रूप से पड़ा है। वाईविल के अनुसार परमेश्वर ने (यहोवा) मूसा से पर्वत के शिखर पर से (Semon of the mount) यह आदेश दिया है जिन्हें New testament कहा जाता है। इन दश आज्ञाओं का अवलोकन करें तो यह ज्ञात होगा कि इनमें से कई हमारी श्रमण संस्कृति के मूलाधार जैसी ही हैं।

वास्तव में श्रमण संस्क्राति अहिंसाप्रधान, कमप्रधान तथा पुरुषार्थप्रधान रही है, जैसा कि इस लेख के पूर्वार्द्ध में बताया गया है। इस संस्कृति का मूलाधार अहिंसा है, वह अहिंसा केवल नकारात्मक नहीं अपितु विधेयात्मक भी है। जहाँ वह हिंसा न करने का प्रावधान करती है, वहीं समस्त प्राणिजगत् से मैत्री, करुणा एवं प्रमोद का भी उपदेश देती है। उसका मूल मन्त्र है :

"सत्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थभावं विपरीत वृत्तौ, सदा ममात्मा विद्धातु देव ॥"

यह भी ध्यान रखने योग्य है कि अहिंसा केवल प्राणी के प्राणनाश करने तक ही सीमित नहीं है अपितु आर्थिक क्षेत्र में अर्थजन्य द्वेष, ईर्ष्या आदि को समाप्त करने के लिए अपरिग्रह (इच्छा परिमाण व्रत्त) का उपदेश भी करती है। अपने रहन-सहन में सात्विकता हो, आवश्यकताएं सीमित हों, इसके लिए उपभोगपरिभोगपरिमाण व्रत्त का विधान किया गया है। तात्पर्य यह है कि मानव-समाज में शोषण को वृद्धि न हो। इसी प्रकार अनेकांतवाद का विधान करके बौद्धिक अहिंसा का मार्ग प्रशस्त किया गया है। श्रमण संस्कृति के प्रभाव के सम्बन्ध में एकबार स्व० लोकमान्य तिलक ने कहा था कि ब्राह्मणों पर जैनों की अहिंसा का बहुत प्रभाव पड़ा है। यह एक प्रसिद्ध घटना है कि जैनों के २२ वें तीर्थंकर अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) जब विवाह के लिए पहुँचे, उन्होंने वहाँ एक पशु गृह में पशुओं की आर्तपुकार सुनी तथा जब उन्हें यह ज्ञात हुआ कि यह अतिथियों के भोजन के लिए वध किये जावेंगे तब वापस हो गये। विवाह अस्वीकार कर दिया। सहस्रों वर्ष पुरानी इस घटना ने सौराष्ट्र के जन-जीवन में अहिंसा का जो बीजारोपण किया, उसकी झाँकी आज भी वहाँ देखी जा सकती है। सौराष्ट्र में पशु-पक्षियों की शालाएँ आज भी देखी जाती हैं तथा जैन, जैनेतर लोग उत्साहपूर्वक पशु-रक्षा करते हैं। यह भी एक सुविज्ञ बात है कि हमारे देश के जनजीवन में अभी भी शाकाहार को उत्तम मानते हैं। यह जैन अहिंसा का प्रभाव है, हालाँकि गत कुछ वर्षों की परिस्थिति तथा विरुद्ध प्रचार के कारण स्थिति में परिवर्तन होता जा रहा है, किन्तु एक बात विना संकोच के स्वीकार की जानी चाहिए कि अहिंसा

(प्राणिवध) के अतिरिक्त अनेकांत, अपरिग्रह, जातिप्रथा आदि (जो श्रमण संस्कृति के मूलाधार थे) पर स्वयं जैन समाज ने अधिक जोर नहीं दिया। परिणाम यह हुआ कि श्रमण संस्कृति को मजबूत नहीं बनाया जा सका। केवल जैन समाज के ही कई विभाग, भाग, उपविभाग हो गए। कोई खाई को नहीं पाट सका। अपरिग्रह की तो विडम्बना है। लेखक के एक विदेशी मित्र ने उससे व्यंग्यपूर्ण जिज्ञासा की कि अपरिग्रह का उपदेश देने वाले जैन धर्म के अनुयायी (जैन साधु नहीं) गृहस्थों में अपरिग्रह का कोई आकर्षण नहीं है। कर्मणा जाति का उद्घोष करने वाले महान् पुरुष की वाणी पर समाज ने कोई अमल नहीं किया। तात्पर्य यह है कि हमें इस दिशा की अपनी असफलता स्वीकार करनी चाहिए।

यदि यह कहा जाए तो अत्युक्ति न होगी कि हममें वैचारिक जड़ता इतनी आ चुकी है कि भ० पार्श्वनाथ, महावीर, बुद्ध जैसे महान् क्रांतिकारी महापुरुषों के अनुयायी होने के बावजूद भी हम लकीर के फकीर हो चुके हैं। संस्कृति वास्तव में विकृति होती जा रही है। हमारे मन मस्तिष्क में कोई नया उन्मेष नहीं होता। इस विकृत परिस्थिति में आधुनिक युग की समस्याओं से जूझने, उसका हल निकालकर मानव जाति का उत्थान करने की क्षमता नहीं रही है। साधु-समाज की स्थिति बड़ी विचित्र होती जा रही है। हम शब्द (जड़) के गुलाम होते जा रहे हैं। उन शब्दों के पीछे जो भावना Spirit है, उसको देखकर प्रेरणा प्राप्त करने का हममें साहस नहीं रहा है। अच्छे-बुरे, पाप-पुण्य का निर्णय वाह्य परिस्थिति से करके धर्मी तथा पापी होने का प्रमाण पत्र दे देते हैं, जब कि श्रमण संस्कृति में अन्तर्वृत्ति पर अधिक जोर दिया जाता रहा है। यदि श्रमण संस्कृति को तारुण्य प्रदान करना है, तो आधुनिक समय के Challange को स्वीकार करके समस्याओं का हल निकालना होगा। आज समस्या केवल व्यक्तिगत जीवन की नहीं, अपितु समाज के जीवन की है, राष्ट्र के जीवन की है। समाज तथा राष्ट्र में व्याप्त विषमता मिटाकर समता प्रस्थापित करना होगा, जो कि श्रमण के जीवन का महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। जैन ग्रन्थों में कहा गया है कि—

"समयाए समणो होई, बंभचेरेण बंभणो।
नाणेण य मुणी होई, तवेण होई तावसो॥"

काश! हम सब जैन, बौद्ध तथा और जो श्रमण संस्कृति के उन्नयन के इच्छुक हैं, नवचिन्तन के साथ व्यापक कार्य प्रारम्भ करें!★

—**श्री सौभाग्यमल जैन**, ऐडवोकेट

१३

श्रमण संस्कृति की सार्वजनीनता का प्रश्न :

अमेरिका और एशिया की विस्मयकारी वैज्ञानिक उपलब्धियाँ अप्रत्याशित उपलब्धियाँ नहीं हैं। मनुष्य का मस्तिष्क निरन्तर अनुसन्धानशील रहा है। इन उपलब्धियों का मूल सुदूर अतीत में है। नींव के पत्थर का प्रदर्शन नहीं होता है, किन्तु नींव का पत्थर न हो तो शिखर जो आकाश की तरफ उठा हुआ होता है, जो सबकी आँखों में चमकता रहता है, उसका कोई अस्तित्व ही नहीं हो। आज की इन महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों के पीछे पूर्वकालीन अगणित लोगों की साधना का रहस्य है।

श्रमण संस्कृति से मेरा तात्पर्य है—जीवन की संस्कृति। ज्ञान, विज्ञान, चिन्तन और अनुसंधान की संस्कृति। जैन, बौद्ध, वैदिक आदि की भारतीय परम्परा में तथा इसी प्रकार ग्रीक, मिश्र और बेबीलोनिया की विदेशी परम्परा में जिस समृद्ध संस्कृति का विकास हुआ है, उसी संस्कृति के इर्दगिर्द आज का चिन्तन घूम रहा है। उन्हीं परम्परागत मूल तत्त्वों का आज भाष्य और परिष्कार हो रहा है। उन्हीं की नई परिभाषाएँ हो रही हैं। कोई नई बात नहीं है, कोई नया सृजन नहीं है। केवल प्रयोग की प्रधानता ने उन्हें अधिक परिष्कृत अवश्य कर दिया है, और परिष्कार के कारण ही उसका अलग अस्तित्व परिलक्षित हो रहा है। ज्ञान और विज्ञान के क्षितिज की कौनसी दिशा शून्य रही है, जिस पर अतीत के विचारकों की दृष्टि न गयी हो ? सामाजिक जीवन, राजनीतिक व्यवस्था, आर्थिक प्रबन्ध, विद्यार्थी जीवन, अध्ययन क्रम, भूगोल, खगोल, परमाणु, ध्यान, मन, आत्मा, परमात्मा—इन तमाम विषयों पर सोचा गया है और आज नये सिरे से उन्हीं विषयों की केवल पुनरावृत्ति हो रही है। उदाहरण

के लिए आज की खोज है, चन्द्र ! हजारों वर्ष पूर्व आकाश के इस ग्रह पर प्रश्न उठे थे और जितने साधन समावान के उनके पास थे, उन्होंने उन साधनों से समाधान करने का प्रयत्न किया था। आज का समाधान केवल नया है, किन्तु जिज्ञासा और जिज्ञासा का Subject वही है, इसी तरह परमाणु वर्तमान अनुसंधान का महत्त्वपूर्ण विषय है। मन वहुचर्चित विषय है, ध्यान के लिए उत्सुकता है, इन विषयों से प्राचीन ग्रंथ भरे पड़े हैं।

मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि आज के मनुष्य के पास कोई नई वात नहीं है, या कोई नई खोज नहीं है। मैं केवल इतना ही संकेत करना चाहती हूँ कि जिस संस्कृति के उद्गम में अनन्त व्यापकता को स्पर्श करने का अपरिमेय सामर्थ्य था, आज उसके हाथ से ये विषय निकल गए हैं। चन्द्र, मन और परमाणु आदि विषयों पर आज के वैज्ञानिकों की धारणाएँ प्रामाणिक मानी जाती हैं, उनकी परिभाषाएँ शास्त्र वन गई हैं और प्राचीन ग्रन्थों एवं संस्कृतियों के पक्षधरों एवं अध्येताओं की वातों को अप्रामाणिक करार दिया जा रहा है। ऐसा क्यों हो रहा है ? Occultism की कुछ वातें सिद्धान्त के रूप में उनके पास रह गई हैं। डा० खुराना की जीन थियरी की पूर्ण खोज के वाद वे उन रहस्यों के सम्वन्ध में भी कुछ नहीं कह सकेंगे। तव क्या केवल अतीत के गौरवपूर्ण अध्यायों की प्रशंसा मात्र से भविष्य में अपना स्थान सुरक्षित रख सकेंगे ? कभी नहीं। वर्तमान की स्थिति अस्थिर हो चुकी है, भविष्य इससे भी अधिक उग्रतावादी आ रहा है। अतीत के विचार को अन्तिम सत्य मानने के कारण संस्कृति की सार्वभौमिकता एक तरह समाप्तप्राय हो गई है। संकीर्णता और प्रतिवद्धता ने उसकी व्यापकता को कुचल दिया है। संस्कृति की सार्वजनीनता के गौरव की सुरक्षा सार्वभौमिक वनने में है, संकीर्ण वनने में नहीं। वर्तमान के परिकरों से हटकर केवल अतीत में जीने के प्रयत्न ने संस्कृति को क्षीण और कमजोर वना दिया है। नये संशोधन और नये संपादन के सन्दर्भ से पृथक् नहीं, किन्तु उसी के साथ चलकर श्रमण संस्कृति सार्वभौम वन सकती है। ★

—**साध्वी श्री चंदनाजी**, दर्शनाचार्य

१४

श्रमण संस्कृति की सार्वभौमिकता :

संसार के विभिन्न महापुरुषों ने अपने-अपने देशों में स्थिति और समय के अनुसार वहाँ के निवासियों का जीवन सफल और सार्थक बनाने के लिए जो विचार दिए, भले ही उनमें देश, काल, परिस्थिति के कारण भिन्नता हो, फिर भी उसके मूल में जो तत्त्व है, उसमें प्रमुख स्वर यही रहता है कि मानव का जीवन सफल और सार्थक कैसे बने। फिर भी इस चिन्तन में कुछ अन्तर दिखाई दे तो उसकी पार्श्वभूमि यही हो सकती है कि जहाँ चिन्तन के अनुकूल या प्रतिकूल वातावरण में चिन्तन की परम्परा चली आ रही हो, वहाँ स्वाभाविक ही उस चिन्तन में अधिक गहराई होगी। जहाँ परम्परा लम्बे समय से चली न आई हो तो उसका रूप कुछ भिन्न लगेगा। पर अन्त में सभी सयानों को एकमत पर आना ही होगा।

वैसे संसार की विचारधाराएँ दो प्रवाहों में बँटी हुई मालूम देती हैं—एक पाश्चात्य विचार पद्धति, दूसरी पौर्वात्य विचार पद्धति। पाश्चात्य विचार पद्धति यथार्थ पर आधारित और बहिर्मुखी है—स्वाभाविक भौतिकता को महत्त्व देती है। जिसमें भौतिक साधनों से मानव को सुखी बनने का अधिक से अधिक प्रयत्न है। पौर्वात्य विचारधारा अन्तर्मुखी होने से आत्मा की सुप्त-शक्तियों के विकास द्वारा मानव को सुखी बनाने में प्रयत्नशील रहने से सहज में वह संयमप्रधान बन जाती है। फिर भी भोगप्रधान विचारधारा में भी यदि मानव-समाज को ठीक से चलाना हो तो कुछ नियन्त्रण तो अपने आप पर लगाना ही पड़ता है। क्योंकि संयम के बिना मनुष्य कभी सुखी बन ही नहीं सकता।

जिन्होंने संयम पर अधिक जोर दिया हो उस विचारधारा और

भोग-प्रधान विचारधारा के प्रचलन के विषय में जब हम गहराई से अध्ययन करने के लिए प्रस्तुत होते हैं तो जहाँ संयमप्रधान विचार-धारा प्रचलित है वहाँ की विचारधारा के प्रचलित होने में स्थानीय परिस्थिति का क्या हिस्सा था, इस पर चिन्तन करना आवश्यक हो जाता है।

शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति तथा सामाजिक जीवन सुख से, सुरक्षित और समाधानपूर्वक चले, इसलिए भौतिक साधनों का जरूरत रहती है। उनके बिना समाज का धारण, पोषण तथा रक्षण ठीक से नहीं हो सकता। पर जब कोई समाज अपनी बुद्धि-कौशल्य से इन चीजों का उत्पादन जरूरत से अधिक बढ़ा लेता है तब उस समृद्ध स्थिति से भी समाज में असन्तोष पैदा अधिक होता है। समाज में सुख, लालसा या तृष्णा के बढ़ने से असंतोष, प्रतिस्पर्धा, ईर्ष्या, संघर्ष बढ़ते हैं, फलतः मानवशक्ति मानवजाति को सुखी बनाने की अपेक्षा मानवजाति के नाश और उसके अकल्याण की ओर बढ़ती है। और भारत में यही हुआ।

भारत के प्राचीन निवासी बाह्य और भौतिक सुखों से आत्मिक सुखों की ओर अधिक ध्यान देते थे। ध्यान और आत्म-साधना में विश्वास करते थे और शांति से अपना जीवन बिता रहे थे। उनके समय में कला का भी विकास दिखाई देता है और इस नागरिक संस्कृति के शहर काफी व्यवस्थित और सुखदायी प्रतीत होते हैं। पर जब बाहर से आये हुए आर्यों के साथ संघर्ष हुआ तो उसमें उनकी हार हुई। भले ही युद्ध में हार हुई हो, पर भौतिक सुखों को प्राधान्य देने वाली आर्य संस्कृति पर उन्होने विजय पाई और दोनों के समन्वय से भारतीय संस्कृति का जन्म हुआ जिसके दर्शन उपनिषद् व महा-भारतकाल में होते हैं।

भारतीय समृद्धिकाल की दृष्टि से महाभारत का समय सुवर्ण-युग का माना जा सकता है। जब पेट की समस्या संतोषजनक रीति से सुलझ जाती है तब विद्या, विज्ञान, साहित्य, कला तथा संस्कृति का विकास होता है, और वह महाभारत काल में दिखाई देता है। यहाँ के निवासियों की जीवन की जरूरतें पूरी करने के लिए साधनों की प्रचुरता दिखाई देती है। उस काल में लोग समृद्ध थे और विविध

कलाओं की उन्नति भी उस समय काफी हुई थी। मयासुर द्वारा पांडवों का बनाया भवन इतना कलापूर्ण था कि जहाँ जल का विन्दु न हो वहाँ जल दिखाई देता था और जल की पुष्करणी इस प्रकार दिखाई देती थी मानो सूखी जमीन हो।

पर इस समृद्धि ने सद्‌गुणों के अधिक विकास की जगह ईर्ष्या, द्वेष, मत्सर आदि दुर्गुणों का निर्माण किया। भौतिक विकास के साथ-साथ आत्मिक शक्तियों का विकास भी उस काल में दिखाई देता है, पर भौतिकता के आगे आध्यात्मिकता की, दुर्गुणों के आगे सद्-गुणों की शक्ति कुछ कम पड़ी, जिससे धर्म और न्याय के लिए महाभारत का युद्ध हुआ। जिसने अन्याय या अधर्म के पक्ष के नाश के साथ-साथ न्यायी एवं धार्मिक पक्ष को भी इतना दुर्बल वना दिया कि उनकी जीत भी हार में परिवर्तित हो गई।

उस समय के समझदार और युग के महापुरुष कृष्ण द्वारा लड़ाई टालने के सभी प्रयत्न निष्फल हुए। युद्ध हुआ और उसमें विजयी पक्ष भी इतना जर्जर वन गया कि वीर अर्जुन यादव स्त्रियों को दस्युओं के हाथ से वचा नहीं पाये।

इस दारुण स्थिति ने चिन्तकों को चिन्तन के लिए बाध्य किया। और दिखाई देता है कि भौतिक सुखों की निस्सारता समझकर प्रवृत्ति मार्ग से निवृत्तिमार्ग और अहिंसादि गुणों के विकास की ओर लोगों को जाना पड़ा।

इतिहासकार ऐसा मानते हैं कि महाभारत युद्ध आज से ३००० से ३५०० वर्षों पूर्व हुआ होगा। उस काल में हिंसा के दुष्परिणामों की समाज पर जो प्रतिक्रिया हुई उससे ऋषि, मुनि, चिन्तक अहिंसा को सर्वश्रेष्ठ धर्म मानने लगे।

चाहे कितना भी वड़ा आघात लगे पर समाज में परिवर्तन एक साथ नहीं होता। समाज रूढ़ विचारों को जल्दी नहीं छोड़ता। इस लिए जिन चिन्तकों को प्रवृत्ति से निवृत्ति श्रेष्ठ मालूम दी, बाह्यसुखों से आन्तरिक सुखों का मूल्य अधिक मालूम हुआ, वे गृह त्यागकर जङ्गल में जाकर आत्मविकास का प्रयत्न करते थे।

उस समय भारतीय संस्कृति में समन्वय काफी अंशों में हो गया था, फिर भी ब्राह्मण और श्रमण दो धाराएँ अलग-अलग प्रवा-

हित थीं। इन दोनों धाराओं में पहले जैसी कटुता या संघर्ष नहीं रह गया था, पर उन विचारों को जीवन में लाने के विषय में और कहाँ किस विचार को अधिक महत्त्व दिया जाए, इस विषय में मतभेद दिखाई देता है। ब्राह्मण विचारधारा भी सम और दम को जीवन-विकास में आवश्यक तो मानती थी, पर इन विचारों को जीवन में उतारने के लिए एक व्यवस्थित कार्यक्रम उसने बनाया। ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास—ये चार आश्रम बनाये गए थे। प्रारम्भ में ज्ञानार्जन या सद्गुण विकास, उनका जीवन में आधान गृहस्थी सम्बन्धित कर्त्तव्यों को सामाजिक बनाने के लिए वानप्रस्थ, और अन्तिम समय में सभी का त्याग—संन्यास या निवृत्ति। परन्तु श्रमण विचारधारा ने सम, दम, धर्म के पालन के लिए समय की मर्यादा न मानकर ही व्यक्ति चाहे जिस अवस्था में संन्यास या निवृत्ति ले सकता है, उसमें समय की कोई मर्यादा नहीं रखी और न ही वर्ण का बन्धन ही रखा।

भले ही चिन्तकों के चिन्तन में विचार परिवर्तन की प्रक्रिया चलती हो, फिर भी भौतिक सुखों के पीछे लगे लोग उनके पीछे पूरी तरह से चलने लग गये हों, ऐसा नहीं दीखता। इसलिए अहिंसा के परिणामों से त्रस्त भारत में हिंसा तो चल ही रही थी। भौतिक सुखों को विधिवत् बनाने के प्रयास भी कुछ हिंसा में विश्वास रखने वाले धार्मिकों की ओर से चल ही रहे थे और यज्ञ में हिंसा बन्द हो गई हो, ऐसा नहीं लगता।

ऋषि, मुनि और चिन्तकों को लगा कि अहिंसा ऋषि-मुनियों या संन्यासियों तक सीमित न रहकर जनसमाज में व्यापक बननी चाहिए और इसलिए २८०० साल पहले भारतीय संस्कृति ने एक मनीषी को जन्म दिया जिसका नाम पार्श्व था, जिसने अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह को सामाजिक धर्म बनाने का प्रयत्न किया। भले ही इन चातुर्यामों का पूर्णरूप से पालन सर्वसामान्य व्यक्तियों के लिए सम्भव न हो, फिर भी अपनी शक्ति के अनुसार इस धर्म का पालन करें। लेकिन यह चातुर्याम सामाजिक धर्म के रूप में प्रतिष्ठित हो। उस युग में परिग्रह में केवल धन, सम्पत्ति ही नहीं, स्त्री का भी समावेश होता था। इसलिए अपरिग्रह में ब्रह्मचर्य का समावेश हो ही जाता था।

सुप्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् स्व० धर्मानन्दजी कौसाम्बी कहते हैं कि "पार्श्वनाथ के इस चातुर्याम धर्म को पाँच यम के रूप में ब्राह्मण संस्कृति ने स्वीकार किया। महावीर ने उसका पंच-महाव्रत के रूप में विस्तार किया। बुद्ध ने अष्टांगिक मार्ग के रूप में और ईसा ने टेन कमांडमेण्ट्स के रूप में इन्हीं चातुर्यामों का विस्तार किया।" इस तरह श्रमणसंस्कृति केवल जैन या बौद्धों तक ही सीमित नहीं रही वरन् उसका प्रभाव सार्वभौमिक बन गया।

अब देखना यह है कि इस संस्कृति ने किन मूल बातों पर अधिक जोर दिया है और क्या वे बातें संसार की समस्याओं को सुलझाने में सक्षम हैं ?

श्रमण संस्कृति का आधार या मूलभूत सिद्धान्त अहिंसा है जो सभी प्राणियों को अपनी तरह मानकर समता का और स्नेह का व्यवहार करने को कहता है। यदि गहराई से विचार किया जाए तो संसार की प्रत्येक कालीन सभी समस्याओं के मूल में असमता ही प्रमुख रूप से काम करती रही है। यदि एक मनुष्य दूसरे के प्रति आत्मवत् या समता का व्यवहार करे तो संसार में कोई भी समस्या उठ ही नहीं सकती, सारा संसार सुखपूर्वक रह सकता है।

श्रमण संस्कृति की समता सार्वभौम है। संसार के प्रायः सभी विचारक यह मानते है कि विषमता मानव जाति के लिए शाप है, उसके दुःखों का मूल कारण है। इसलिए समता में बाधक बातों को दूर करना चाहिए। इसमें व्यक्ति और समाज—दोनों का हित है।

मानव-मानव में भेद करने वाली तीन प्रमुख बाधाएँ हैं। प्रथम है—ममता, आसक्ति या तृष्णा या कामना। मनुष्य यदि किसी भी चीज पर अधिक आसक्ति रखता है, उसे पाने की इच्छा या कामना रखता है तो वह स्वयं को दुःख के गर्त में, अशांति की अग्नि में ढकेलता है। क्योंकि कामनाएँ या तृष्णाएँ अनन्त हैं, उनकी कभी तृप्ति नहीं होती। विवेक और संयम से ही उन पर नियंत्रण लाया जा सकता है। इसलिए जिसे समता की साधना करनी हो उसे संयम को अपनाना पड़ता है, और उपलब्ध साधनों में सन्तोष मानने का अभ्यास करना होता है।

वैसे ही मानव का अहङ्कार भी उसे वेचैन वनाता है। अपने विषय में वलवान, वुद्धिमान, समृद्ध, शक्तिसम्पन्न आदि कल्पनाएँ कर मनुष्य जव अहङ्कार के पीछे पड़ता जाता है, तव वह दूसरों से अपने को श्रेष्ठ समझने लगता है, समता की साधना उससे नहीं हो सकती। यह व्यक्तिगत अहङ्कार कई वार इतना प्रवल हो जाता है कि उससे वड़े-वड़े युद्धों का निर्माण होकर करोड़ों व्यक्तियों को प्राणों से हाथ धोना पड़ता है। स्वर्गमय संसार को नरकमय वनाने का कारण वन जाता है। युद्धों के भुक्तभोगी इस वात को वहुत अच्छी तरह से जानते हैं। पिछले महायुद्धों के दुष्परिणाम संसार के लाखों-करोड़ों ऐसे व्यक्तियों को भी भुगतने पड़े, जो निरपराध थे। और आज भी युद्ध की आशंका से संसार के चिन्तक चिन्तित हैं।

जैसे ममता और अहंता समता में वाधक है वैसे ही मताग्रह हमारे वीच भेद की दीवारें खड़ी करने में वड़ा प्रभावशाली तत्त्व है। संसार की भलाई की इच्छा रखने वाले समझदार कहलाने वाले भी इस मताग्रह से अत्यन्त पीड़ित हैं। यह मताग्रह धर्म, सम्प्रदाय या विचार के नाम पर चलता है। इससे मानव जाति को वहुत वड़ा हानि हुई है। केवल समाज को ही इसने हानि पहुँचाई हो, ऐसी वात नहीं, वल्कि जो मताग्रही हैं वे भी इसके कारण अशान्त हैं, वेचैन और दुखी हैं। फिर भी यह ऐसी मीठी खाज है जिसे खुजलाते-खुजलाते मनुष्य लहुलुहान होकर भी छोड़ नहीं पाता।

जैसे ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर समाज-चिन्तकों को प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर, वाह्य से अन्तर की ओर तथा हिंसा से अहिंसा की ओर जाने के लिए वाध्य किया, वैसे ही सैद्धान्तिक दृष्टि से भी श्रमण संस्कृति के मूलभूत तत्त्व सारे संसार की समस्याओं को सुलझाने में अमोघ अस्त्र की भाँति होने से, उनकी सार्वभौमिकता सिद्ध होती है।

केवल भारतीय ही नहीं वल्कि पाश्चात्य संस्कृति भी भौतिकता के क्षेत्र में वहुत अधिक आगे वढ़कर अस्वस्थ है, वेचैन है और उसे भी सूझ नहीं रहा है कि क्या करे ?

एक ओर जहाँ जीवन की आवश्यक जरूरतों की पूर्ति नहीं होती इसलिए असन्तोष है, वहाँ जीवन को सुखी वनाने के भौतिक साधनों

की प्रचुरता वाले देश के निवासी इसलिए दुःखी है कि सुख के साधनों से वे ऊब गये हैं। क्या देश में वेहाल घूमने वाले हिप्पियों को देखकर शङ्का के लिए कोई स्थान रह जाता है कि केवल भौतिक सुख शान्ति और सन्तोष नहीं दे सकते ?

तव युग की माँग है कि संसार की समस्याओं को सुलझाने के लिए श्रमण संस्कृति के सबके लिए कल्याणकारी सिद्धान्तों का प्रसार हो।

उसके लिए श्रमण संस्कृति के महापुरुष भगवान् महावीर की निर्वाण शताब्दी एक उत्तम अवसर है। यदि भगवान् महावीर के प्रति उनके अनुयायियों में सच्ची निष्ठा हो तो उन्हें श्रमण संस्कृति की सार्वभौमिकता को ध्यान में रखकर उस दिशा में प्रयत्नशील होना आवश्यक है।

पर यह तव होगा जब वे इन तत्त्वों के अनुसार अपने जीवन को ढालकर निःस्वार्थ भाव से उन महान् तत्त्वों के प्रसार में अपने जीवन को समर्पित करेंगे। श्रमण संस्कृति के सिद्धान्तों के यही अनुकूल है कि हम भगवान् महावीर के बाह्य चिह्नों के प्रसार से अधिक महत्त्व उनके सिद्धान्तों के प्रचार को दें।

श्रमण संस्कृति के उपासकों से अपेक्षा तो यही है कि वे भगवान् महावीर के तत्त्वों का अनुसरण कर, उनके प्रसार में अपने आपको समर्पित करें। अपने व्यक्तित्व को उन्हें समर्पित कर दें। इससे बढ़कर कोई ऐसी भक्ति नहीं है जो भक्त का सही विकास कर सके।

—श्री रिषभदास रांका

१६
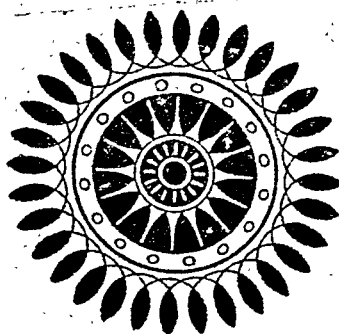
धर्म का स्वरूप और सर्वधर्म-समन्वय

धर्म भारतीय जीवन का केन्द्र विन्दु रहा है और आज भी वह जन-जीवन की प्रधान प्रेरणा है। चिन्तन और साक्षात्कार के द्वारा भारतीय ऋषि ने जिस तत्त्व को 'धर्म' शब्द के द्वारा अभिव्यक्त किया है, वह अत्यन्त गूढ़ एवं व्यापक है। उसमें अनेक प्रत्ययों का अन्तर्भाव है। इस गहराई एवं विविधता तक अन्य संस्कृतियाँ नहीं पहुँच पाईं। यही कारण है कि धर्म शब्द का वास्तविक पर्यायवाची अन्य किसी भी भाषा में उपलब्ध नहीं है। वैसे एक भाषा के शब्दों के दूसरी भाषा में पर्यायवाची शब्दों के मिलने का सिद्धान्त ही मान्य नहीं। प्रत्येक भाषा का सोचने और समझने का अर्थात् विश्व की वस्तुओं और अनुभवों के नामकरण का अपना एक विलक्षण ढङ्ग होता है। यही कारण है कि एक भाषा का अर्थ-जगत् दूसरी भाषा में हूबहू नहीं ढाला जा सकता। अतः एक भाषा से दूसरी भाषा में पूर्णतः यथार्थ अनुवाद की कल्पना ही नहीं है। पर शब्दों के संकेतार्थों (Denotational meaning) के अनुवाद की अपेक्षा उनके गुणार्थों, लक्षणार्थों या सम्पृक्तार्थों (Connotation) को अनूदित कर देना अधिक कठिन है। इन अर्थों का पूर्ण अनुवाद प्रायः असम्भव होता है। सम्पृक्तार्थों में प्रत्येक संस्कृति और जाति के चिन्तन की अपनी विशिष्टता रहती है। धर्म के जिस स्वरूप का साक्षात्कार भारत के मनीषियों ने किया है, वह अन्यों ने नहीं। यही कारण है कि धर्म शब्द का गुणार्थ तो दूर संकेतार्थ देने वाला शब्द भी अन्य भाषाओं में नहीं है। धर्म मजहब, Religion और सम्प्रदाय नहीं है। वह Duty और Nature मात्र भी नहीं है। मजहब, Religion सम्प्रदाय Ethics, Duty,

Nature, शवाव आदि सभी शब्द 'धर्म' के किसी एक अंशमात्र का बोध कराते हैं। वे सब मिलकर भी 'धर्म' शब्द के स्थानापन्न नहीं हो सकते हैं। 'धर्म' व्यापक है और ये सब व्याप्य। सब सम्प्रदायों में धर्म तत्त्व है, पर इन सम्प्रदायों में इसका कोई अंशमात्र ही है। वह अपनी सम्पूर्णता में किसी भी सम्प्रदाय में नहीं।

भारतीय मनीषी ने जड़ और चेतन, व्यष्टि और समष्टि सभी के साथ धर्म का सम्बन्ध माना है। व्यक्ति का, समाज का, संस्था का, सम्प्रदाय का, देश का, राज्य का—सबका अपना-अपना धर्म होता है। 'धर्म' में 'जो है' और 'जैसा होना चाहिए'—दोनों का अन्तर्भाव है। सबके लिए अपने सहज स्वरूप में स्थित रहते हुए जो 'करणीय' है उसको करना ही धर्म है। सहज स्वरूप अर्थात् आत्मस्वरूप में स्थित रहना तथा आत्मस्वरूप की प्राप्ति का प्रयास दोनों ही धर्म हैं। मोटे तौर पर लौकिक दृष्टि से 'जो जैसा है' उसी के अनुरूप व्यवहार करते रहना, यह पशु का धर्म है और पशु की वह प्रकृति, जो मानव के विकास में बाधक है, उनका संयम करके जो 'जैसा होना चाहिए' वैसा करना मानव का धर्म है। धर्म का यही अन्तर पशु और मानव का भेदक तत्त्व है। इसी से व्यक्ति में पशु और मानव तत्त्व पहचाने जाते हैं। उसका कितना अंश मानव हो गया है और कितना पशु रह गया, इसकी कसौटी धर्म का सही स्वरूप है।

"आहार निद्रा भय मैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मोहि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीना: पशुभि: समाना ॥"

पशु और मानव में व्यावर्तन करने वाला 'धर्म' केवल प्रकृति मात्र नहीं, अपितु प्रकृति का संयम एवं उसका उदात्तीकरण है। वह प्राप्त वस्तु नहीं अपितु सम्पाद्य वस्तु है, अतः उसका स्वरूप 'जो जैसा है' उसकी अभिव्यक्ति नहीं, अपितु 'जो जैसा होना चाहिए' उसकी अभिव्यक्ति है। आहार, निद्रा आदि जीव की सहज प्रवृत्तियाँ हैं। इनमें प्रत्येक जीव रहेगा ही। ये प्रत्येक जीव मात्र के धर्म हैं। पर संयम और विवेक के द्वारा इनके स्वरूप, साधन, प्रयोजन आदि में अन्तर एवं उदात्तीकरण होता है। ये उदात्तीकृत आहारादि ही मानव के धर्म हैं। मानव 'आहार' केवल पेट भरने मात्र के

लिए नहीं करता। आहार उसके स्थूल शरीर की पुष्टि मात्र का साधन नहीं, अपितु वह उसके सूक्ष्म शरीर के उदात्तीकरण का साधन भी है। अतः मानव के लिए 'आहार' पूजा भी है। वह सबमें बाँटकर खाता है, स्वयं का भाग त्यागता है। पहले दूसरों को खिलाता है, तब स्वयं खाता है। देवताओं को समर्पित करके खाता है। विश्व के सारे भोग जो यज्ञ के द्वारा भावित देवताओं द्वारा दिये गये हैं और इन भोगों को उन देवताओं को समर्पित न करके भोगने वाला व्यक्ति 'स्तेन'[1] है। यही इस बुद्धि से किये गये आहारादिक केवल सहज प्रवृत्ति मात्र को संतुष्टि करने वाले नहीं होते अपितु वे धर्म बन जाते हैं। जो यज्ञ से बचे हुए अन्न को ग्रहण करता है, वह सब पापों से मुक्त हो जाता है, पर जो अपने ही शरीर के पोषण के लिए पकाते हैं वे पाप के भागी हैं।[2] इसीसे धर्म की यज्ञ व्रतादिक विशेष क्रियाओं के द्वारा जीव अपने आहारादिक की शुद्धि करता हुआ 'धृति, क्षमा' आदि धर्म के सामान्य लक्षणों में प्रतिष्ठित होता है। यही इनका लक्ष्य है। ऐसे आहारादिक अदृष्ट पैदा करते हैं, स्वर्गादि के भावक बनते हैं। जीव को मोक्ष मार्ग की ओर अग्रसर करते हैं क्योंकि इन क्रियाओं के मूल में रहने वाले भक्ति और ज्ञान में जीव प्रतिष्ठित होने लगता है।

धर्म 'अभ्युदय' एवं 'निःश्रेयस' की प्राप्ति का एकमात्र साधन है। यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'—यह धर्म का सर्वमान्य लक्षण है। अभ्युदय में सब प्रकार की लौकिक उन्नति एवं विकास का अन्तर्भाव है तथा 'निःश्रेयस' मोक्ष एवं पारमार्थिक कल्याण है। धर्म में 'अभ्युदय' एवं 'निःश्रेयस' दोनों में पूर्ण समन्वय स्थापित करने की आकांक्षा है। जिस सांसारिक 'अभ्युदय' से पारमार्थिक कल्याण में बाधा पहुँचती है, उस अभ्युदय का साधन धर्म नहीं हो सकता और जब सांसारिक कर्त्तव्यों को भूलकर व्यक्ति पारमार्थिक-कल्याण के लिए ही कार्य करने लगता है, अर्थात् अप-

---

१. इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभावि,
तैस्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः।

२. यज्ञशिष्टाशिन सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषै।
भुञ्जते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।

रिपक्व अवस्था में ही निवृत्ति मार्ग को अपना लेता है, तब भी वह 'धर्म' के मार्ग से हट जाता है, क्योंकि वस्तुतः जब तक सांसारिक अभ्युदय का कोई भी अंश शेष रह जाता है, तब तक व्यक्ति मूलतः अभ्युदय का मार्ग छोड़ नहीं सकता। उस अवस्था में वह 'निःश्रेयस' का मार्ग पूर्णतः अपना भी नहीं पाता है। अपनाने का केवल ढोंग करता है। यह केवल जीवन की विडम्बना है। उसमें सांसारिक अभ्युदय की वासना बनी ही रहती है। वह जबरदस्ती उस वासना को कुचलने की चेष्टा में संसार को छोड़ने का ढोंग अवश्य कर सकता है, और करता भी है। पर उस वासना के समाप्त होने से पूर्व मन से कभी संसार छूटता ही नहीं। भोजनादि के छोड़ने से शरीर कृश अवश्य हो जाता है, पर विषयों की तृष्णा नहीं जाती। विषयों का रस बना रहता है। वह तो परम तत्त्व के साक्षात्कार से अर्थात् वास्तविक ज्ञान और वैराग्य की प्राप्ति से हो जाता है।

"विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रस वर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥"

प्रवृत्तिमात्र से सचमुच वैराग्य हुए बिना पूर्ण निवृत्तिमार्ग नहीं अपनाया जा सकता। उससे पूर्व उसे पूर्णतः अपना लेने का प्रयास एवं अहंकार केवल ढोंग मात्र है। वासना के सब रूपों का भोग एवं ज्ञान-वैराग्य से क्षय किये बिना जीव निवृत्ति मार्ग या मोक्ष मार्ग को वस्तुतः अपना ही नहीं पाता है। प्रकृति जीव को सब वासनाओं और भोगों के चक्कर में घुमा कर ही उनसे छुटकारा दिलाती है। यही जीव चौरासी लाख योनियों में भटकता है। वासनाओं का धर्मानुकूल साधनों एवं प्रक्रियाओं में भोग उन वासनाओं से मुक्ति का हेतु है। तभी व्यक्ति मोक्ष मार्ग पर अवस्थित हो सकता है।

सम्पूर्ण सांसारिक अभ्युदय और सुखोपभोग का अन्तर्भाव 'अर्थ' और 'काम' में है। संसार में व्यक्ति धन, सम्पत्ति, राज्य, सम्मान आदि जो भी कुछ प्राप्त करना चाहता है, वह सब अर्थ है और उनसे मिलने वाले सारे सुख 'काम' हैं। अतः 'अर्थ' और 'काम' की प्राप्ति ही सांसारिक अभ्युदय की सिद्धि है। 'ज्ञान' और वह भी केवल 'स्वरूप ज्ञान' के अतिरिक्त संसार की सभी चीजें अर्थात् अर्थ और काम भी सारा जगत् सम्मिलित प्रयास से प्राप्य वस्तु है।

व्यक्ति धनोपार्जन अकेला नहीं कर पाता है और कामतृप्ति अकेले से नहीं होती है। अतः 'अर्थ' और 'काम' के साधनों में दूसरों की सहायता अपेक्षित है। संसार का सारा अर्थ और सारे सुखोपभोग के साधन समष्टि के प्रयास के परिणाम हैं, अतः उन पर सबका अधिकार है। उनका न्यायोचित विभाजन भी होना ही चाहिए। यह 'न्याय' ही धर्म है। इसीलिए 'अर्थ' और 'काम' प्राप्ति के अवसर पर दूसरों के अभ्युदय और सुखोपभोग का पूरा ध्यान रखना चाहिए। अगर एक व्यक्ति या समाज का अभ्युदय और सुख दूसरे व्यक्ति या समाज के पतन और दुःख पर आधारित है, तो वह वस्तुतः धर्म नहीं, जो धर्म सांसारिक सम्प्रदाय और सुखोपभोग के जितने ही विरोधरहित स्वरूप एवं साधनों की प्रतिष्ठा करता है, वह धर्म उतना ही व्यापक है। वह उतना ही धर्म के वास्तविक स्वरूप का प्रतिष्ठापक है। उसमें उतनी ही मात्रा में मानव धर्म का निर्वाह है। पर संसार में तो ऐसा विरोध पद-पद पर दिखाई पड़ता है। एक व्यक्ति के दो धर्मों—व्यक्ति और समाज के अथवा दो समाजों के कल्याणों में जब अन्तर्विरोध प्रतीत होता है, उस समय धर्म का मार्ग क्या है? यहीं पर धर्मों में, सम्प्रदायों में अन्तर्विरोधि के दर्शन होते हैं। जो धर्म इन अन्तर्विरोधों का जितना ही सम्यक् समाधान दे पाता है, वह उतना ही व्यापक धर्म है। पूर्ण समाधान देने वाला धर्म ही पूर्ण धर्म है। वही अंगी धर्म की प्रतिष्ठा करता है। शेष तो अंग धर्मों की प्रतिष्ठा करने वाले धर्म हैं। अंग धर्म को ही सब कुछ मानने वाले सम्प्रदाय धर्मान्धता फैलाने वाले सम्प्रदाय होते हैं। धर्म का मार्ग 'बहुजनहिताय' नहीं, 'सर्वजन हिताय' होता है। एक व्यक्ति का सच्चा धर्म कभी दूसरे के हितों का बाधक नहीं होता। उसमें सबका ही कल्याण निहित रहता है।

धर्माधर्म के अन्तर्विरोध में धर्म का निर्णायक व्यक्ति का शुद्ध अन्तःकरण है। पर ऐसा शुद्ध अन्तःकरण केवल साक्षात्कृतधर्मा का ही होता है। इसमें बहुमत से निर्णय नहीं होता, एक साक्षात्कृतधर्मा एवं तत्त्वज्ञ का मत बहुमत के विरुद्ध का प्रयास है। सबके कल्याण को एक साथ देखने वाला अपौरुषेय

ज्ञान ही प्रमाण है। इसी से धर्म श्रुत्यैकसमधिगम्य है। इस प्रकार के अन्तर्विरोधों को दूर करने के लिए ही समष्टि कल्याण अर्थात् प्रत्येक के कल्याणरूपी निःश्रेयस को कसौटीरूप मानना पड़ता है। जिस कार्य में समष्टि का कल्याण निहित है और जो निःश्रेयस को देने वाला है, वह कार्य अधर्म नहीं होता, चाहे वह आपाततः कुछ के लिए दुःखप्रद प्रतीत हो सकता है। डाक्टर की शल्यक्रिया बीमार को स्पष्टतः कष्ट देती है, पर वह धर्म है, क्योंकि उसमें बीमार का, डाक्टर का सबका कल्याण निहित है। जो अनुभूतिकाल में सुखकर है, वह केवल प्रेय है, पर जो परिणाम में सुखकर है, वही श्रेय है। श्रेय के लिए प्रेय का समर्थन अथवा श्रेय को ही प्रेय बना देना, वस्तुतः धर्म की उच्चतम भूमि है।

मोक्ष की ओर ले जाने वाला अर्थ और काम ही वस्तुतः धर्म है। या यों कहें कि धर्मानुकूल अर्थ और काम ही मोक्ष के हेतु हैं। धर्मानुकूल अर्थ और काम का सेवन ही व्यक्ति में अर्थ और काम की वासना को भोग के द्वारा नष्ट करता है और वासनारहित अन्तःकरण में ज्ञान उत्पन्न करता है। यह ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है। इस प्रकार चार पुरुषार्थों में धर्म प्रथम है। और मोक्ष अंतिम अर्थात् धर्म से प्रारम्भ करके धर्म में ही रहता हुआ व्यक्ति धर्मानुकूल अर्थ का उपार्जन करे और धर्मोपार्जित अर्थ से धर्मानुकूल काम का सेवन करे, यही मानव का धर्म है। इस धर्म में प्रतिष्ठित रहकर व्यक्ति अभ्युदय और मोक्ष को प्राप्त होता है। 'मोक्ष' भारतीय दृष्टि से जीवन का परम लक्ष्य है। इस प्रकार पुरुषार्थ चतुष्टय में समन्वय है। यही अभ्युदय और निःश्रेयस का समन्वय है। यही धर्म है। 'अभ्युदय' 'निःश्रेयस' के लिए ही है। निःश्रेयस विरोधी अभ्युदय त्याज्य है। व्यक्ति के स्तर पर उच्चतम अवस्था मोक्ष है, सभी धर्म उसी के लिए हैं। मोक्षप्राप्ति अंगीधर्म है और शेष सब अङ्ग धर्म हैं। अङ्ग-अङ्गी के लिए छोड़े जा सकते हैं— 'आत्मार्थी पृथ्वीं त्यजेत्'। पर धर्मानुकूल अभ्युदय की साधना हमेशा निःश्रेयस या मोक्ष का हेतु ही होती है। इस दृष्टि से अङ्ग और अङ्गी का अन्तर्विरोध वस्तुतः होता नहीं, केवल आपाततः प्रतीत भर होता है। साक्षात्कृतधर्मा ही इस अविरुद्ध स्थिति को समझता है, अतः उसी का आप्तवाक्य धर्म के लिए प्रमाण है।

'धारणात् धर्मः' धर्म के दोनों अर्थ हैं,—जो धारण किया जाए तथा जो धारण करे। वस्तु अपने धर्मों को धारण करती है तथा धर्म वस्तु को धारण करते हैं। अग्नि में दाहकत्व है, अग्नि दाहकत्व धर्म को धारण किए हुए है। पर अगर अग्नि में से दाहकत्वधर्म निकल जाए, तो वह अग्नि ही नहीं रहेगी। अतः दाहकत्वधर्म अग्नि को धारण किए हुए है, अग्नि को अग्नि वनाए हुए है। अग्नि का अग्नि वने रहने का प्रयास भी धर्म है। इसी प्रकार मानव का मानव वना रहना एवं वने रहने का प्रयास ही वास्तविक धर्म है। मानवत्व मानव को बनाये हुए है और मानव मानवत्व धारण किये हुए है। ये दोनों ही धर्म के रूप हैं। जीव का स्वरूपस्थिति के लिए प्रयास ही धर्माचरण है तथा स्वरूपस्थिति ही धर्म है। व्यापक दृष्टि से जीव अपनी प्रत्येक क्रिया के द्वारा अपने पाप-पुण्य का क्षय कर रहा है, प्रत्येक क्रिया सर्वान्तर्यामी की इच्छा से चल रही है और उसकी सब इच्छाएँ मङ्गलमय ही होती हैं। अतः उस दृष्टि से सभी क्रियाएँ धर्म हैं क्योंकि जीवन की सभी क्रियाएँ और अनुभव जीव को ज्ञात और अज्ञात रूप से मोक्षमार्ग की ओर ही ले जा रही हैं, उसे अपने वास्तविक स्वरूप में प्रतिष्ठित रहने में सहायक हो रही हैं। समष्टिचैतन्य की दृष्टि से न कोई धर्म है और न कोई अधर्म। सव कुछ धर्म ही है। इस भूमिका पर पहुँचे हुए व्यक्ति के लिए न कुछ धर्म रहता है और न कुछ अधर्म ही। पर व्यष्टिचैतन्य का अहङ्कार तथा राग-द्वेष की भिन्नता उसमें अधिकार भेद को जन्म दे देते हैं। प्रत्येक व्यक्ति एक ही कर्म का अधिकारी नहीं है। अनधिकार चेष्टा ही अधर्म है। इस अधिकारी-भेद के सिद्धान्त पर ही वर्णाश्रम धर्म प्रतिष्ठित है। प्रत्येक वर्ण और आश्रम का अपना-अपना धर्म है। अपने ही धर्म में प्रतिष्ठित मानव सिद्धि अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होता है—'स्वे स्वे कर्मण्ययेरतः संसिद्धि लभते नरः।' मोक्ष सवका गन्तव्य स्थान है, पर सव प्राणी भिन्न-भिन्न स्थानों पर खड़े हैं, अतः गंतव्य स्थान पर पहुँचने के मार्ग अलग-अलग हैं।

जव तक व्यक्ति में अहंता है, तव तक उसमें अधिकारी-भेद है। उसके लिए धर्म और अधर्म का भेद है, पर जव वह अपनी पृथक् अहंता को भगवान् की अहंता में विलीन कर देता है, अथवा पृथक्

अहंता को मिथ्या मान लेता है, उस समय उसकी अवस्था 'धर्मा-धर्मौ रूपदिगलितो पुण्य पापे विशीर्णे' हो जाती है। उसी अवस्था को प्राप्त करने के लिए भगवान् श्री कृष्णचन्द्र भी आदेश देते हैं :

"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो: मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥"

इसी अवस्था के ज्ञानी की मनःस्थिति और क्रियाओं का बोध कराते हुए गीता कहती है :

"गुणा गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते।
नैव कुर्वन्न कारयेत।"

ज्ञानी के लिए धर्म के कुछ विधि-निषेध नहीं होते—'नैस्गुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः।' वस्तुस्थिति यह है कि जिस स्वरूप स्थिति तक पहुँचने के लिए विधि-निषेध किये जाते हैं वहाँ तो ज्ञानी पहुँच चुकता है, अतः विधि-निषेध का कुछ प्रयोजन ही नहीं रह जाता है। विधि-निषेध धर्म की प्राप्ति के लिए होते हैं, पर ज्ञानी तो धर्म के अपने स्वरूप में अवस्थित ही रहता है। धर्म में अवस्थित व्यक्ति की सभी क्रियाएँ स्वतः धर्माचरण होती हैं, उसके लिए बाहर से किसी भी प्रकार के विधि-निषेध की आवश्यकता नहीं होती। न कोई क्रिया स्वतः धर्म है और न अधर्म। व्यक्ति की वासना, भावना या अहंता से वे क्रियाएँ धर्म या अधर्म हो जाती हैं। अहंता के कारण उन क्रियाओं से धर्माधर्म के अदृष्ट बनते हैं। ज्ञानी इस अहंता को छोड़ चुकता है। उसकी क्रियाओं में कर्तृत्व-बुद्धि ही नहीं रहती, अतः उसके लिए उन क्रियाओं से धर्माधर्म के अदृष्ट नहीं बनते। फिर विधि-निषेध का क्या प्रश्न है? वह त्रिगुणातीत अवस्था में रहता है, और धर्माधर्म त्रिगुण अवस्था में रहते हैं। यज्ञादिक धर्माचरणों का विधान करने वाले वेदों के विषय त्रिगुण हैं और ज्ञानी को इन गुणों से ऊपर उठना है। इसी से भगवान् कहते हैं— 'त्रैगुण्य विषया वेदा नैस्त्रैगुण्यो भवार्जुन!'

धारण करने वाला धर्म अर्थात् स्वरूपस्थिति धारण करने योग्य धर्माचरण एवं धर्माचरण से उत्पन्न अदृष्ट-धर्म अपने इन सभी अर्थों सहित न तर्कगम्य है और न व्यक्ति को उसके अनुभव से

प्राप्त होता है। उसके लिए भगवान् का आदेश ही प्रमाण है। जीव और ब्रह्म का अभेद-ज्ञान जीव को अपनी बुद्धि या साधना के प्रयासों से नहीं होता, अपितु 'तत्वमसि श्वेतकेतो' के उपदेश से होती है। अमुक कार्य धर्म है, इस यज्ञ से यह इस अदृष्ट की उत्पत्ति होगी, स्वर्ग कामो यजेत् आदि के लिए व्यक्ति का साक्षात् अनुभव और बुद्धि प्रमाण नहीं। इसमें भगवान् का अपौरुषेय ज्ञान ही प्रमाण है। उसी को तीनों कालों का प्रतिक्षण प्रत्यक्ष रहता है। सभी धर्मों में आप्त वाक्य और शास्त्र ही धर्माचरण के लिए प्रमाण हैं।

धर्म के दो रूप हैं - सामान्य और विशेष। मानव मात्र के लिए अपेक्षित मानवोचित गुणों पर ही सामान्य धर्म टिका हुआ है। सत्य, अहिंसा, प्रेम, करुणा, इन्द्रिय-दमन, अक्रोध, अस्तेय आदि ऐसे गुण हैं जिनकी उपस्थिति हर मानव में आवश्यक है। इन्हीं से मानव की अभ्युदय की आकांक्षा और उसके अभ्युदय का स्वरूप दूसरों की सुख-सुविधा का ध्यान रखते हुए हो सकता है। ये ही उसके अन्तःकरण को निर्मल करते हुए उसको मोक्ष मार्ग का पथिक बना सकते हैं। अतः ये गुण तो प्रत्येक सम्प्रदाय या मजहब की मूल आधार भित्ति ही होने चाहिएँ। जो सम्प्रदाय या मजहब इन गुणों का अवमूल्यन करता है, वह वस्तुतः धर्म के वास्तविक स्वरूप की प्रतिष्ठा में असफल है। सभी विशेष धर्मों का प्रयोजन मानव में इन सामान्य धर्मों की प्रतिष्ठा एवं पुष्टि है। विशेष धर्मों का धर्मत्व ही उनकी इस[१] क्षमता पर टिका हुआ है। मनु ने सामान्य धर्म के निम्नलिखित लक्षण दिये हैं—धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध।[२] पूजापद्धति और आचारपद्धति की विशेषता ही विशेष धर्म का आधार है। यह विशेषता ही सम्प्रदायों का निर्माण करती है। हिन्दू और मुसलमानों की पूजा पद्धति भिन्न-भिन्न हैं, अतः वे दोनों दो धर्म अर्थात् दो सम्प्रदाय या मजहब हैं। धर्म की विशेषता अधिकारी भेद

---

१. वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः।
वेदो नारायणो साक्षात् स्वयंभूदिति शुश्रूम॥

२. धृतिः क्षमा दमोस्तेयं शौचमिन्द्रयनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्॥

पर टिकी हुई है। वर्णाश्रम व्यवस्था भी अधिकारी-भेद के कारण ही है, अतः उनके धर्मों की गणना भी विशेष धर्मों में होती है। व्यक्ति के अपने संस्कारों के अनुरूप हो उसे पूजा-पद्धति रुचती है। कुछ लोग स्वभाव से शाक्त हैं तथा दूसरे वैष्णव। कुछ लोग संस्कार से ज्ञानमार्गी तथा कुछ संस्कार से ही भक्ति या कर्मकाण्डी होते हैं। इस संस्कारों के अनुरूप विशेष धर्मों का पालन मानव में सामान्य धर्मों की प्रतिष्ठा कर सकता है, उसे सत्य पर ला सकता है। इसी प्रकार कुछ लोगों के संस्कार जैन धर्म के अनुरूप तथा कुछ के बौद्ध धर्म के अनुरूप हैं। अतः सहज रूप में तो सब अपने-अपने स्थानों पर ठीक हैं। विद्वान् उनमें बुद्धिभेद नहीं उत्पन्न करता अपितु उनको अपने धर्म की प्रेरणा देता है।[3] यह संस्कार और अधिकारी-भेद पर टिका हुआ विशेष धर्म ही 'स्वधर्म' है। इस स्वधर्म का पालन ही वस्तुतः मानव को अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि देता है। अतः धर्म-परिवर्तन जैसी कोई वस्तु पारमार्थिक रूप से सत्य नहीं। धर्म-परिवर्तन केवल सम्प्रदायों के बिम्बों का परिवर्तन मात्र है। इससे केवल व्यक्ति के ऊपरी लक्षण अर्थात् वस्त्र, या शरीर पर धारण किये जाने वाले उपकरण जैसे यज्ञोपवीत, तिलक, क्रास आदि बदल जाते हैं, व्यक्ति का अन्तःकरण नहीं बदलता। जो एक प्रकार की उपासना के संस्कार को लेकर व्यक्ति आया है, वह जब तक उस प्रकार की उपासना के संस्कारों का पूर्णतया क्षय करके दूसरी प्रकार की उपासना की अर्हता पैदा नहीं कर लेता, तब तक वह दूसरी उपासना-पद्धति को नहीं अपना सकता है। वह धर्म नहीं बदलता। दूसरी उपासना-पद्धति को अपनाना अन्तर् की प्रेरणा पर आधारित है। बाहर के उपदेश, प्रलोभन अथवा भय से परिवर्तित धर्म केवल ढोंग और अशान्ति के हेतु हैं। विश्व के सारे साम्प्रदायिक झगड़े ऐसे ही कारणों से हुए हैं। भारतीय धर्म इसी उदार एवं विशाल दृष्टिकोण पर टिका हुआ है, सर्वधर्म-समन्वय की यही मूल आधार भित्ति बन सकती है।

आज सम्पूर्ण विश्व के उदार नेता धर्मावलम्बियों तथा धर्माचार्यों में सर्वधर्म-समन्वय की एक आकांक्षा विद्यमान है। यह धर्म के क्षेत्र में एक शुभ चिह्न है, जिससे विश्व में मानवता के प्रसार और

---

३. न बुद्धिभेदं जनयेत् अज्ञानां कर्मसंगिनाम्
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्त समाचरन्

विकास की संभावनाएँ बढ़ रही हैं। सामान्य धर्म के लक्षणों के सामान्य स्वरूप पर सबकी स्वीकृति है। समन्वय का सबसे बड़ा आधार है इन गुणों को विशेष धर्मों की अपेक्षा अधिक महत्त्व देना क्योंकि विशेष धर्म इन सामान्य धर्मों की पुष्टि के लिए ही हैं अतः विशेष धर्म के आचरणों के प्रकार के औचित्य की कसौटी इन सामान्य धर्मों को बनाना चाहिए। यह देखना बहुत जरूरी है कि कहीं विशेष धर्मों का आचरण का दुराग्रह इन सामान्य धर्मों की हत्या तो नहीं कर रहा है। इसके बिना तो न धर्म की कल्पना सम्भव है और न धर्मों के समन्वय की। धर्मों या सम्प्रदायों में जो भेद है वह इन सामान्य धर्मों को विशेष पद्धतियों से साकार करने तथा मानव के आचरण में इन्हें उतारने पर है। अर्थात् यह भेद मूलतः पूजा पद्धतियों का भेद है। ऊपर हम अधिकारी-भेद और वासना-भेद का सिद्धान्त मान चुके हैं, अतः ऐसी कोई पूजा-पद्धति नहीं हो सकती है, जो सबके लिए उपयुक्त हो और सबके लिए समान रूप से कल्याणकारी हो। पूजा-पद्धतियों का भेद तो रहेगा ही, क्योंकि उसका मानव के सहज संस्कारों की भिन्नता से सम्बन्ध है। पूजा-पद्धतियों या विशेष धर्मों के क्षेत्र में केवल पारस्परिक सद्भावना एवं सहिष्णुता ही समन्वय का आधार बन सकती है। प्रत्येक धर्मावलम्बी में दूसरे धर्मावलम्बी के प्रति आदरबुद्धि एवं सद्भावना होनी चाहिए। उसे अपनी विशेष पूजा-पद्धतियों का इस प्रकार निर्वाह करना चाहिए जिससे वे दूसरों की भावनाओं को ठेस न पहुँचाएँ। उसे अपनी पूजा-पद्धतियों के बाहरी उपकरणों की साजसज्जा की अविकलता, उन पूजा-पद्धतियों से पुष्ट होने वाले धर्मात्मापने अथवा अपनी उत्कृष्टता के अहंकार की पुष्टि की अपेक्षा इन पूजापद्धतियों के प्राप्य मानवीय गुणों पर अधिक ध्यान देना चाहिए। आखिर तो पूजापद्धति किसी वस्तु को प्राप्त करने का साधन ही है न, और वह साध्य है मानवता। उस मानवता का बलिदान करके जब पूजा-पद्धति का संरक्षण दुराग्रह की सीमा तक पहुँच जाता है तब धार्मिक संघर्ष होते हैं। अतः धार्मिक समन्वय के लिए इस दुराग्रह का परित्याग आवश्यक है। सब धर्मावलम्बी अपने-अपने स्थान पर ठीक हैं। वे अगर मेरी तरह की पूजा-पद्धति में विश्वास नहीं रखते तो अधर्मी हैं, इस अहंकार और अन्धविश्वास का समूल नाश करने पर ही सर्वधर्म-समन्वय सम्भव है। ★

—**डा. भगवत्स्वरूप मिश्र,** एम.ए., पी.एच.डी.

१९

वैदिक संस्कृति और श्रमण संस्कृति की

तुलनात्मक समीक्षा

वैदिक संस्कृति के समान श्रमणसंस्कृति भी प्राचीन संस्कृति मानी जाती है। प्राय: 'श्रमण' शब्द का प्रयोग जैन और बौद्ध दोनों के साधुओं के लिए किया जाता है, किन्तु दोनों की संस्कृति अलग-अलग होने से यहाँ पर 'श्रमण संस्कृति' से जैन संस्कृति ही ग्राह्य है। जनकल्याण की भावना और जीवमात्र पर दया करना, यही श्रमण संस्कृति का मूल उद्देश्य है। 'वसुधैव-कुटुम्बकम्'' के आदर्श को सामने रखकर जीवमात्र में समभाव रखना ही 'श्रमण संस्कृति' है। श्रमणसंस्कृति के सारे आचार-विचार इसी 'समत्व' के आदर्श की ओर संकेत करते हैं। वैदिक संस्कृति के मूल में भी यही समत्व भावना निहित है।

'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे'

हम सबको मित्र की दृष्टि से देखें। गीता में भी इस 'समत्व' का महत्त्व प्रतिपादित है। सिद्धि-असिद्धि में सम होकर कर्म करना ही 'समत्वयोग' है।[1]

श्रमण संस्कृति भारत की प्राचीनतम संस्कृति :

जैन-परम्परा श्रमण संस्कृति को वैदिककालीन संस्कृति स्वीकार करती है। क्योंकि वेदों में श्रमण संस्कृति के प्रवर्तक आदि-तीर्थङ्कर ऋषभदेव का नाम आया है।[2] और अथर्ववेद में व्रात्यों

---

१. सिद्ध्यसिद्ध्योः समोभूत्वा समत्वं योग उच्यते।

—भगवद्गीता, २।४८

२. ऋग्वेद १०।९१।१४

का उल्लेख मिलता है।[3] ब्राह्मण ग्रन्थों और सूत्रों में 'व्रात्यस्तोत्र' यज्ञ का विधान बताया गया है, जिसमें व्रात्यों को शुद्ध कर वैदिक परम्परा में सम्मिलित करने का वर्णन है। ये व्रात्य तत्कालीन श्रमण-परम्परा के गृहस्थ मालूम होते हैं, जो वेदों का विरोध करते थे और इन्द्र को नहीं मानते थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय इन्हें अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता था और इसी कारण 'इन्द्र' ने इन्हें शालावृकों से नोचवाया था।[4] ताण्ड्य ब्राह्मण में भी इसी प्रकार का उल्लेख मिलता है।[5] बाद में उन्हें दीक्षित करके वैदिक-परम्परा में सम्मिलित कर लिया जाने लगा था। उपर्युक्त विवेचन से यह प्रतीत होता है कि भले ही श्रमण संस्कृति वैदिक संस्कृति के समकालिक न हो, भले ही जैन तीर्थङ्कर ऋषभदेव वैदिक ऋषभदेव से भिन्न रहे हों, पर इतना तो स्पष्ट ही है कि श्रमण संस्कृति की आधारशिला वैदिक संस्कृति ही थी।

मेरे विचार से श्रमणसंस्कृति उपनिषद्कालीन संस्कृति प्रतीत होती है। क्योंकि वैदिककाल में देवी-देवताओं की पूजा और यागादि अनुष्ठानों की प्रमुखता थी और आत्मा, कर्मसिद्धान्त, पुनर्जन्म, तप, त्याग, वैराग्य, ब्रह्मचर्य आदि जो श्रमणसंस्कृति के प्रमुख आधार हैं, का विवेचन उपनिषद्काल में ही मिलता है। और उपनिषदों में श्रमण-संस्कृति की विस्तृत रूपरेखा भी दृष्टिगोचर होती है। पुराणकाल में तो जैन सम्प्रदाय के आदितीर्थङ्कर ऋषभदेव को विष्णु के अवतार के रूप में पूजा जाने लगा था। श्रीमद्भागवत में ऋषभदेव को एक अवतार के रूप में स्वीकार किया गया है।[6] ऋषभदेव के ईश्वर के रूप में पूजे जाने की मान्यता इतनी दृढ़मूल हो गई थी कि शिवपुराण में भी उन्हें शिव के अट्ठाईस योगावतारों में गिनाया गया है।

---

३. अथर्ववेद अध्याय १५

४. इन्द्रो यतीन् शालावृकेभ्यो प्राच्छत्। —तैत्तरीयसहिता ६।२।७।५

५. ताण्ड्य ब्राह्मण ८।१।४

६. श्री मद्भागवत ५।५।२८।३१

भारतीय संस्कृति का मूल आधार है—तप, त्याग, संयम और आचार। वैदिक-परम्परा के अनुसार यह जीवन एक यज्ञ है। तप, दान, आर्जव, अहिंसा और सत्य—ये ही इस जीवनयज्ञ की दक्षिणा हैं।[७] जिस प्रकार विना दक्षिणा के यज्ञ निष्फल होता है, (हृतयज्ञोऽदक्षिणः), उसी प्रकार बिना तप, दान, सत्य आदि के पालन के यह जीवन निरर्थक है। वृहदारण्यकोपनिषद् में इन समस्त-सद्‌गुणों को तीन प्रकारों (दम, दान और दया) में समाहित कर दिया गया है। ऐसा कहा जाता है कि एक बार प्रजापति के पास उनकी सन्तानें देव, मनुष्य और असुर शिक्षा प्राप्ति के हेतु गये और प्रार्थना की कि भगवन् हमें उपदेश दीजिए। तव प्रजापति ने सबको 'द' का उपदेश दिया। दम, दान और दया।[८] इस 'द, द, द' के सिद्धान्त में ही भारतीय संस्कृति की आत्मा निहित है। दम, दान, दया—ये तीन ही उपनिषदों के प्रमुख सिद्धान्त हैं। वेद, आगम, पुराणों में इसी की महत्ता का वर्णन है। श्रमण संस्कृति में भी ये प्रमुख तत्त्व स्वीकार किये गये हैं। उनमें भी दम, दान और दया को आत्मोन्नति का मार्ग बताया गया है।

दम—आत्मनिग्रह को 'दम' कहा जाता है, इसी को संयम' भी कहते हैं। चारित्रिक शुद्धता के लिए आत्मसंयम अत्यावश्यक है। आत्मसंयम और इन्द्रियों के दमन से परब्रह्म का साक्षात्कार होता है। केनोपनिषद् में तो 'दम' को ब्रह्मसम्बन्धी रहस्यज्ञान का आधार बताया है।[९] व्रत पालन की दृष्टि से इन्द्रियों की अनियन्त्रित प्रवृत्तियों को रोकना 'संयम' है। ब्रह्मचर्य भारतीय संस्कृति का प्रमुख अंग है। श्रमण संस्कृति में ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक बताया गया है। वे मन, वचन, काय से इन्द्रियों के संयम, मनोविकारों के अवरोध तथा वासनाओं के उन्मूलन को 'ब्रह्मचय' कहते हैं। उन्होंने आत्मसंयम को सर्वोत्कृष्ट गुण माना है। योगदर्शन में 'ब्रह्मचर्य' का प्रयोग संकुचित अर्थ में किया गया है।

---

७. अथ यत् तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमित ता अस्य दक्षिणा।
—छान्दोग्योपनिषद् ३।१७।४

८. वृहदारण्यकोषानिषद् ५।१

९. तस्यै तपो दम, कर्मेति प्रतिष्ठा—केनोपनिषद् ४।८

"ब्रह्मचर्यं गुप्तस्येन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः।"

किन्तु वह संकुचित अर्थ यहाँ अभीष्ट नहीं है। अथर्ववेद में कहा गया है कि 'ब्रह्मचर्य एवं तप से राजा राष्ट्र की रक्षा करता है, ब्रह्मचर्य के द्वारा ही आचार्य शिष्यों के शिक्षण की योग्यता अपने में संपादन करते थे।[१०] उपनिषदों में ब्रह्मचर्य का विशेष महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। छान्दोग्योपनिषद् में तो यहाँ तक कहा गया है कि यज्ञ, उपवास आदि जितने भी पवित्र कर्म हैं, वे बिना ब्रह्मचर्य के निरर्थक हो जाते हैं।[११]

उपनिषदों में ब्रह्मचर्य के साथ तप का भी वर्णन किया गया है। अथर्ववेद में ब्रह्मचर्य के साथ तप का उल्लेख आया है। संयम के बिना न ब्रह्मचर्य सिद्ध होता है और न तप। अतः तप के लिए संयम को आवश्यक बताया गया है। सुख-दुःखादि द्वन्द्वों की सहन-शक्ति 'तप' कहा जाता है। बिना इन्द्रिय-संयम के सुख-दुःखादि द्वन्द्वों की सहनशीलता नहीं आती। तपस्या की सिद्धि के लिए संयम' और 'ब्रह्मचर्य' दोनों ही अत्यन्त आवश्यक हैं। श्रमण संस्कृति में आत्मशुद्धि के लिए तप परमावश्यक माना गया है और आत्मशुद्धि जीवन का परम लक्ष्य है। तप दो प्रकार के होते हैं—आभ्यन्तर और बाह्य।

दान—दीन-दुखियों की सहायता करना तथा लोभ से निर्मुक्त होना 'दान' है। वैदिक युग में दान का बड़ा महत्त्व था। ईशावास्योपनिषद् में बताया गया है कि 'किसी के धन का लोभ मत करो। **(मा गृधः कस्यस्विद् धनम्)**। क्योंकि धन से अमरता की आशा नहीं की जा सकती।[१२] तैत्तरीयोपनिषद् में बताया गया है कि दीन-दुखियों की धन से सहायता करनी चाहिए, किन्तु वह श्रद्धा से करे, अश्रद्धा से नहीं। प्रसन्नता से देना चाहिए भय से नहीं।[१३] श्रमण

---

१०. ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं हि रक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते॥

—अथर्ववेद ११।५।४

११. छान्दोग्योपनिषद् ८।५।१-४

१२. अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन —बृहदारण्यकोपनिषद् २।४।२

१३. तैत्तरीयोपनिषद् १।११।

संस्कृति में दान का विशेष महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। श्रमणों के लिए विहार तथा उनके भोजन आदि की व्यवस्था दान से ही होती थी। उनके अनुसार हमने जो कुछ दिया, वह पा लिया और जो कुछ देंगे, वह पाएँगे।

'दया'—दया को ही करुणा भी कहते हैं। भारतीय संस्कृति मे दया को सबसे बड़ा पुण्य माना गया है।[१४] महाभारत में कहा गया है कि संसार में प्राणों से बढ़कर प्रिय कोई अन्य वस्तु नहीं है। अतः मनुष्यों को अपने समान ही प्राणियों पर दया करनी चाहिए।[१५]

आचार—भारतीय संस्कृति में आचार का सबसे अधिक महत्त्व है। आचार ही मानव की उन्नति का प्रमुख साधन है और यही प्रथम धर्म है (**आचारः प्रथमो धर्मः**)। वैदिक संस्कृति में तो यहाँ तक कहा गया है कि आचारहीन व्यक्ति को तो वेद भी पवित्र नहीं कर सकता (**आचारहीनं न पुनातिवेदः**)। श्रमण संस्कृति में आचार के पाँच प्रकार के आचरण बताए गए हैं। उनके नाम है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। श्रमणसंस्कृति में इनके पालन पर विशेष जोर दिया गया है और इन्हें 'पञ्चमहाव्रत' कहा गया है। योगशास्त्र में प्रतिपादित आठ प्रकार के योगाङ्गों में भी इन पाँचों को 'यम' के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है।

'अहिंसा'—अहिंसा श्रमण संस्कृति की सबसे महत्त्वपूर्ण देन है। 'अहिंसा' श्रमणसंस्कृति का प्राण है। महावीर स्वामी का उपदेश है कि 'सबको अपना जीवन प्रिय होता है। अतः किसी को कष्ट नहीं पहुँचाना चाहिए, किसी की हिंसा नहीं करनी चाहिए।' दशवैकालिक में बताया गया है कि "प्राणों की हिंसा करना धर्म नहीं हो सकता। अहिंसा, संयम और तप यही वास्तविक तप हैं।"[१६] जैन धर्म में,

---

१४. नास्ति दयासमं पुण्यं पापं हिंसासमं नहि। —देवी भागवत

१५. नास्ति प्राणात् प्रियतरं लोके किञ्चन विद्यते।
तस्मात् दया नरः कुर्यात् यथात्मनि तथा परे।
—महाभारत अनु० ११६।८

१६. धम्मो मंगलमुक्किट्ठ, अहिंसा संजमो तवो।
—दशवैकालिक १।१

हिंसा न करने को अहिंसा कहा गया है। मन, वचन और काय से किसी भी जीव को दुःख पहुँचाना या मारना 'हिंसा' है। जैन धर्म के अनुसार हिंसा दो प्रकार की होती है—भाव हिंसा और द्रव्य-हिंसा। आत्मा में काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि भावों का उत्पन्न होना, 'भावहिंसा' है। और कषायादि के वशीभूत होकर जब एक प्राणी दूसरे प्राणी की हत्या करता है, तो वह 'द्रव्यहिंसा' कहलाती है। श्रमण संस्कृति में दोनों प्रकार की हिंसाएँ त्याज्य हैं।

वैदिक धर्म में भी अहिंसा को सबसे उत्तम पावन धर्म माना गया है—**'अहिंसा परमो धर्म'**। महाभारत में अहिंसा को समस्त धर्मों का मूल कहा है " **'अहिंसा सकलो धर्मः'**। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में कहा गया है कि—अहिंसा, सत्य, दया, प्राणियों पर अनुग्रह—ये जिसके पास सदा रहते हैं। हे राम ! भगवान् उससे प्रसन्न रहते हैं।"[१७] योग दर्शन में समस्त प्राणियों से द्रोह न करना 'अहिंसा' कहा गया है। भाव यह है कि मन, वचन, काय से किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुँचाना, अहिंसा है। यह सभी धर्मों, सभी सम्प्रदायों में समान रूप से स्वीकार किया गया है, अतः इसे 'सार्वभौम' धर्म कहा जाता है।

'सत्य'—मन और वाणी से जो वस्तु इन्द्रियों द्वारा जैसी देखी गई है, जैसी सुनी गई है, जैसी समझी गई है, उसे उसी रूप में कहना 'सत्य' कहलाता है। समस्त विश्व इसी 'सत्य' पर आधारित है। यह पृथ्वी इसी 'सत्य' पर टिकी हुई है। वेदों में इसे 'ऋत' कहा गया है। सूर्य सदैव नियमित समय पर ही उदित एवं अस्त होता है, संसार निरन्तर गतिशील है, वायु सदैव गतिमान रहती है, इसे ही 'ऋत' कहते हैं, और यही 'सत्य' है। इस प्रकार संसार के समस्त नियम एवं विधान सभी कुछ सत्य पर ही प्रतिष्ठित हैं। तभी तो कहा गया है:

> **"सत्येन धार्यते पृथ्वी सत्येन तपते रविः।**
> **सत्येन वाति वायुश्च सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥"**

---

१७. अहिंसा सत्यवचन दया भूतेष्वनुग्रहो।
यस्यैतानि सदा राम तस्य तुष्यति केशवः॥

—विष्णुधर्मोत्तरपुराण

अस्तेय—अस्तेय का अर्थ है मन, वचन, शरीर से किसी दूसरे के द्रव्य को ग्रहण न करना और न उसके ग्रहण की इच्छा करना। वैदिक धर्म में 'अस्तेय' को अति निन्दित माना गया है। ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है कि कभी भी दूसरे के धन को लेने की इच्छा न करे—**मा गृधः कस्यस्विद् धनम्**। जैन धर्म में आवश्यकता से अधिक का संग्रह करना 'स्तेय' कहा गया है और आवश्यकता से अधिक ग्रहण न करना 'अस्तेय' कहा जाता है।

'ब्रह्मचर्य'—मन, वचन, काय से समस्त इन्द्रियों का संयम करना ब्रह्मचर्य है। वैदिक, बौद्ध, जैन एवं अन्य धर्मों में ब्रह्मचर्यपालन एक आवश्यक धर्म बताया गया है। भारत के समस्त धर्मशास्त्रों में कहा गया है कि स्मरण, कीर्तन, केलि, प्रेक्षण, गुह्यभाषण, संकल्प, अध्यवसाय और संभोग—इन आठ प्रकार के मैथुनों को, ब्रह्मचर्य के साधकों को सदैव परित्याग करना चाहिए। जैन धर्म में "सत्य, तप, प्राणिदया, और इन्द्रिय-निरोधरूप ब्रह्मचर्य के अनुष्ठान को ब्रह्मचर्य कहा गया है।"[१८] वस्तुतः कायिक, वाचिक एवं मानसिक—समस्त प्रकार की वासनाओं का परित्याग करना ही 'ब्रह्मचर्य' है। क्योंकि विषय-वासना पतन का मार्ग है और 'ब्रह्मचर्य' आत्मोन्नति का सर्वोत्तम साधन।

'अपरिग्रह'—अपरिग्रह सांसारिक स्वार्थों के त्याग का नाम है। अर्थात् संसार के समस्त विषयों से राग तथा ममता का परित्याग कर देना अपरिग्रह कहलाता है।

वर्णव्यवस्था :

भारतीय संस्कृति में वर्णाश्रम व्यवस्था का सर्वाधिक महत्त्व माना गया है। वैदिक संस्कृति में वर्णव्यवस्था जाति के आधार पर नहीं, बल्कि कर्म के आधार पर मानी गयी है। वेदों में एक मन्त्र को छोड़कर और कहीं भी ब्राह्मणादि वर्णों का उल्लेख नहीं है। शुक्रनीति में बताया गया है कि "विश्वामित्र, वसिष्ठ, मतंग और नारदादि ऋषियों ने तप के प्रभाव से उत्तमपद को प्राप्त किया था, जाति से नहीं।"[१९] श्रमणसंस्कृति में भी वर्ण-व्यवस्था कर्म के

---

१८. सूत्रकृतांग सूत्र.—आचार्य शीलाङ्क।

१९. विश्वामित्रो वसिष्ठश्च मतंगो नारदादयः।
तपोविशेषसंप्राप्ताः उत्तमत्वं न जातितः॥ —शुक्रनीति

आधार पर मानी गई है। उत्तराध्ययन सूत्र में जयघोष मुनि और विजयघोष ब्राह्मण का सम्वाद आता है, जिसमें जयघोष मुनि विजयघोष से कहते हैं कि "जाति से कोई ब्राह्मण नहीं होता। जिसने राग, द्वेष, भय पर विजय प्राप्त कर ली है, जो मिथ्या-भाषण नहीं करता और सर्व प्राणियों के हित में रत रहता है, सच्चा ब्राह्मण वही है। केवल सिर मुँड़ा लेने से कोई श्रमण नहीं कहा जा सकता, ओङ्कार जपने से ब्राह्मण नहीं बन सकता, जङ्गल में वास करने से कोई मुनि नहीं हो सकता और कुश, चीर धारण करने से कोई तपस्वी नहीं बन सकता। समता से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण और तपस्या से मुनि बना जा सकता है। कर्मों से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कहा जाता है।"[२०]

आश्रम-व्यवस्था :

वैदिक एवं श्रमण दोनों संस्कृतियों में चार आश्रमों की व्यवस्था बताई गयी है। मनु ने चार आश्रमों का उल्लेख किया है—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास।[२१]

मनु के समान ही जैनधर्म में चार प्रकार के आश्रम बताये हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षुक (संन्यास)।[२२] ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक संस्कृति के अनुसार ही जैन धर्म में चार आश्रमों की परिकल्पना की गई है। और उनमें गृहस्थ धर्म सर्वश्रेष्ठ स्वीकार किया गया है। क्योंकि गृहस्थ धर्म के बिना अन्य धर्मों का पालन ही नहीं हो सकता।

विवाह करना गृहस्थ का परम कर्त्तव्य कहा गया है। श्रमण संस्कृति के अनुसार स्वयम्वर विवाह को श्रेष्ठ माना जाता था।[२३] बहुविवाह की प्रथा अवश्य प्रचलित थी, किन्तु परस्त्रीगमन को

---

२०. उत्तराध्ययन सूत्र, अध्याय २५।

२१. ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा।
एते गृहस्थ-प्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः। —मनुस्मृति ६।८७

२२. ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः।
इत्याश्रमास्तु जैनानामुत्तरोत्तरशुद्धितः॥ —आदिपुराण, जिनसेन

२३. सनातनोऽस्ति मार्गोऽयं श्रुतिस्मृतिषु भाषितः।
विवाहादिभेदेषु वरिष्ठोहि स्वयम्वरः। —आदिपुराण

निन्दित समझा जाता था। गृहस्थाश्रमरूपी रथ के स्त्री पुरुष रूपी दो पहिये थे।

कर्म विपाक

प्राणियों में जो शारीरिक एवं मानसिक विषय हैं, वह कर्म-मूलक हैं। जीव जैसा उत्तम या अधम कर्म करता है, वैसा ही फल भोगता है। कर्म के अनुसार ही भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म लेता है और कर्म के अनुसार ही उसे सुख-दुःख मिलता है। मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसा संस्कार बनता है और संस्कार के अनुसार अन्तःकरण की वृत्ति बनती है। वृत्ति के अनुसार जीव की भिन्न-भिन्न विषयों में प्रवृत्ति होती है। उत्कृष्ट कर्म आध्यात्मिकता की ओर ले जाता है और अधम कर्म से निकृष्टयोनि की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख का आधार कर्म है। जैन संस्कृति संसार को अनादि और अनन्त मानती हैं। इस अनादि और अनंत संसार में जीव और अजीव दो पदार्थ हैं। जीव चेतन और अजीव जड़। जीव सिद्ध और संसारी दो प्रकार का होता है। सिद्धावस्था जीव का शुद्ध स्वरूप है और संसारी कर्मबन्धन में बंधा हुआ है। जब आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को भूलकर पुद्‌गल द्रव्य की ओर जाती है, तब अज्ञानवश उसमें राग उत्पन्न होता है, राग से द्वेष तथा राग-द्वेष की चिकनाहट में कर्म चिपक जाता है। राग-द्वेष के अभाव में कर्म-बन्धन नहीं होता।

इस प्रकार हम उपर्युक्त विवेचन पर से इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वैदिक संस्कृति और श्रमण संस्कृति में प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में—चाहे वह आचार क्षेत्र हो, अथवा विचार क्षेत्र—समन्वय का व्यापक सूत्र है। समन्वय की इसी भावना ने तो दोनों ही संस्कृतियों को एक उदात्त, अखंड, व्यापक एवं गहन हिन्दू संस्कृति (भारतीय संस्कृति) के खून में समन्वित कर रखा है।

आत्मा, परमात्मा, जीव, जगत्, बंधन, मोक्ष, पुनर्जन्म, परलोक—प्रभृति ऐसे स्थल हैं, जहाँ पर दोनों ही संस्कृतियों के मध्य पर्याप्त सामंजस्य दिखाई देता है। इस दृष्टिकोण से हम कह सकते [illegible] एवं श्रमण कोई भिन्न-भिन्न दो संस्कृतियाँ नहीं हैं,

वल्कि एक ही संस्कृति के दो रूप हैं, दो पहलू हैं। ऐसा प्रायः व्यवहार में देखा जाता है कि जव कोई सिद्धान्त वनता है, तव युगानुरूप परिस्थितियों एवं देश, काल आदि को लक्षित करते हुए, युग की मान्यताएं एवं जन-मानस के रुझान-युगवोध को देखते हुए, उसमें संस्कार परिष्कार भी होता रहता है। भारतीय संस्कृति इस दिशा में एक वड़ी उदार संस्कृति है। और, यही कारण है कि यह आज तक असंख्य घातक-प्रहारों एवं अवरोधों के वावजूद भी जीवित है। वैदिक संस्कृति एवं श्रमण संस्कृति—दोनों में एक-दूसरे के संस्कार-परिष्कार के उद्दात्त भाव निहित हैं—जो लोकमंगल की दृष्टि से अतीव महत्त्वपूर्ण हैं। इस पर से भी मैं यही समझता हूँ कि दोनों कोई पृथक् संस्कृतियां नहीं हैं अपितु एक-दूसरे की पूरक हैं—परस्पर एक सस्कृति है।

इस दिशा में, दोनों ही क्षेत्रों में, उनके अधिकारी मनीषियों के अन्तस्तल में उदारतावादी चिंतना की अपेक्षा है। आलोचनाएँ-प्रत्यालोचनाएँ तो युगों-युगों से होती आई हैं, होती रही हैं, किंतु आज युग की मांग यही है कि अल्पसंख्यक अथवा वहुसंख्यक तथा इस प्रकार की अन्य पृथकतावादी वृत्ति का परित्याग कर एक अखंड भारतीय संस्कृति के विकास एवं विस्तार में—सभी भावात्मक योगदान करें। समन्वय का यही पथ सच्चे अर्थ में विश्व संस्कृति, विश्वमानव, विश्वबन्धुत्व एवं विश्वकल्याण का पावन पथ होगा, अन्य कोई नहीं।

—**डा० पारसनाथ द्विवेदी**, एम.ए., पी-एच.डी.

१७

वैदिक एवं श्रमण संस्कृतियों के समन्वय का

दार्शनिक धरातल

संस्कृति शब्द 'सम् उपसर्ग' के साथ संस्कृत की 'कृ' धातु से संगठित हुआ है, जिसका मूल अर्थ परिष्कृत करना है। भारतीय जन-जीवन में सभ्यता और संस्कृति शब्द साथ-साथ व्यवहृत होते आ रहे हैं, किन्तु इनके अर्थ में मूलतः पर्याप्त अन्तर है। मनुष्य की जीवन-यात्रा को सरल तथा सन्मार्गी बनाने वाले वे सभी आविष्कार सभ्य उत्पादन के प्रसाधन तथा सामाजिक, राजनीतिक संस्थाएँ सभ्यता के रूप हैं। दूसरे शब्दों में यही बात इस प्रकार कह सकते हैं कि सामाजिक उत्कर्ष का बाह्य साधनमात्र वस्तुतः सभ्यता है। जबकि संस्कृति प्राणी के अन्तस् चिन्तन, कलात्मक क्रिया-कलाप हैं, जिनसे उसकी समृद्धता सुनिश्चित होती है। व्यक्ति के शारीरिक सौन्दर्य में सभ्यता के दर्शन होते हैं जबकि संस्कृति व्यक्ति का आत्मसौन्दर्य है। संस्कृति में आत्मा का परिष्कार तथा संस्कार सम्मिलित रहता है।

आत्म-परिष्कार के लिए संसार में अनादिकाल से प्रयास हुए हैं और आज भी प्रयास जारी हैं। इस दृष्टि से भारतीय संस्कृति का बड़ा महत्व रहा है। भारतीय संस्कृति क्या है? भारतीय संस्कृति में मूलतः वैदिक तथा श्रमण—जैन और बौद्ध—संस्कृतियों का सम्यक् समीकरण होता है। यहाँ हम भारतीय संस्कृति के समन्वयात्मक दृष्टि की संक्षेप में चर्चा करेंगे।

वैदिक का अर्थ है—वेद सम्बन्धी। वेद का अर्थ है—ज्ञान, यथार्थ ज्ञान। यथार्थ ज्ञान से सम्बन्धित समग्र आकार—संस्कार वस्तुतः वैदिक संस्कृति कहलाती है। इस प्रकार श्रमण क्या है? यह सम्यक् श्रम पर आधारित है। श्रमण शब्द का व्यवहार जैन और बौद्ध दोनों की संज्ञाओं के लिए होता रहा है। इस प्रकार वे समग्र जैन, बौद्ध संस्कार, जो सम्यक् श्रम पर आधृत रहे हैं, वस्तुतः श्रमण

संस्कृति के अवयव कहे जा सकते हैं। वैदिक और श्रमण दोनों ही संस्कृतियों की प्रधानता रही है।

आत्मा के अस्तित्व को दोनों ही संस्कृतियाँ स्वीकार करती हैं। आत्मा के स्वरूप को जानना ज्ञान और ज्ञानमय होना वस्तुतः श्रमणत्व को प्राप्त करना है। इस प्रकार अज्ञान अर्थात् कषायों के कर्म फल का विसर्जन (क्षय) वैदिक और श्रमण दोनों ही संस्कृतियों को इष्ट रहा है। प्रश्न यह है कि इन आत्मा-लोक पर आच्छादित विकारों का विसर्जन किस प्रकार हो ? कौन-सी ऐसी बातें हैं, जिनकी वजह से विकारों का जन्म होता है ? हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, और परिग्रह—ये ऐसी कषायजन्य भाव-परिणतियाँ हैं जिनके उदय से आत्म-आभा सूर्य पर आच्छन्न बादलों की नाईं छिप जाती हैं। तब ऐसी स्थिति में प्राणी जन्म-मरण के चक्र में क्रमानुसार गतिमान रहता है।

इन कषायों का अन्त (क्षय) अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रही आत्म-स्वभावों के चिन्तन से सम्भव है वैदिक—वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत आदि, जैन—आचारांग सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, भद्र बाहु, कुंद, कुंद आचार्य आदि, और बौद्ध—सुत्तपिटक, दीर्घनिकाय, मज्झिमनिकाय, धम्मपद, जातक आदि ग्रन्थों में इन दोनों ही संस्कृतियों के इस प्रकार चिंतन का उल्लेख मिलता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि वैदिक और श्रमण संस्कृति का समन्वयात्मक धरातल नैतिक, उच्च आदर्श, चित्त की शुद्धि, संयम, परोपकार, संतोष, दया, मैत्री, मुदिता, करुणा, प्रेम आदि सद्गुणों से संप्रेरित है, जिसके फलस्वरूप काम, क्रोधादि शत्रुओं का विसर्जन हुआ करता है।

जगत् और जीवन, लोक और परलोक की उत्कर्षजनित व्यवस्थाओं में वैदिक और श्रमण संस्कृतियों का योगदान स्पष्ट परिलक्षित होता है। जहाँ संस्कारों में सदाशय है और जिनका आधार सत्य पर अवलम्बित है, निश्चय ही वे सभी पद्धतियाँ और पंथ समन्वयात्मक निष्कर्ष पर खरे उतरे हैं। इस दृष्टि से वैदिक और श्रमण संस्कृतियाँ समन्वय के धरातल पर उल्लेखनीय महत्त्व रखती हैं।★ —**डा० महेन्द्रसागर**, प्रचंडिया, एम.ए., पी-एच.डी.

१८

गीता और श्रमण संस्कृति : एक तुलनात्मक अध्ययन

भारत अनादिकाल से ही संस्कृति के क्षेत्र में विश्वगुरु रहा है। इसका प्रधान कारण यह है कि समन्वय की उदात्त भावना भारतीय संस्कृति का मूल मन्त्र है।

भारत के अंचल में भारतीय संस्कृति दो धाराओं में प्राचीन-तम काल से प्रवाहित होती आई है—वैदिक संस्कृति और श्रमण-संस्कृति। श्रमण-संस्कृति भी आगे चलकर दो धाराओं में विभक्त हो गई—जैन संस्कृति एवं बौद्ध संस्कृति। इन तीनों संस्कृतियों की समन्विति ही भारतीय संस्कृति है। इन तीनों संस्कृतियों ने ही भारतीय-जीवन को सर्वाधिक प्रभावित किया है। इस प्रकार भार-तीय संस्कृति का प्रवाह एक विशाल नदी की भाँति, राह की छोटी-मोटी नदियों को अपने में समाविष्ट करता हुआ, हजारों-हजार वर्षों से भारतभूमि को आप्लावित और समृद्ध करता रहा है।

सांस्कृतिक पुनरुज्जीवन के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक संस्कृति के धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन, अनुशीलन, चिन्तन और मनन के साथ स्याद्वादमुद्रात्मक ऐकात्म्य सम्बन्ध स्थापित किया जाए।

प्रस्तुत लेख में गीता और श्रमण-संस्कृति का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत है। गीता के उन विषयों को देखना है जो कि श्रमण संकृति से मेल खाते हैं। वैसे तो गीता के अधिकतम श्लोक ऐसे हैं, जो जैनदर्शनसम्मत तथ्य प्रकट करते हैं। किन्तु प्रत्येक श्लोक की चर्चा एक विस्तृत ग्रन्थ का रूप ले लेती है; अतः यहाँ संक्षेप में प्रमुख-प्रमुख स्थलों पर ही विचार किया जाता है :

अहिंसा : गीता की दृष्टि में :

धर्म का मूल अहिंसा है। भारतीय-संस्कृति की आचार-प्रणाली का केन्द्र अहिंसा है और प्राणी-दया उसका प्राण है। मनसा, वाचा, कर्मणा, प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष किसी भी रूप में किसी भी प्राणी को शारीरिक एवं मानसिक किसी भी प्रकार की पीड़ा या हानि न पहुँचाना ही अहिंसा है। अर्थात्, किसी भी सचेतन प्राणी को किसी प्रकार दुःखी न करना ही अहिंसा है।

सभी धर्मशास्त्र सदा से यह कहते आए हैं कि किसी की हिंसा मत करो। यदि सब धर्मों में पाई जाने वाली इस साधारण आज्ञा का पालन किया जाए, तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या अहिंसा का आराधक अपने सदाचार के कारण दुष्टजनों के फंदे में अपने को फँसा ले? या अपनी रक्षा के लिए 'जैसे को तैसा' होकर उन लोगों का प्रतिकार करे? दुष्टों का नाश हिंसा के बिना हो नहीं सकता। तो क्या किया जाए? क्या कायर और दुर्बल बनकर कोने में बैठ जाया जाए?

प्रश्न का समाधान करते हुए कृष्ण कहते हैं—नहीं, जो अन्याय है, उसके विरुद्ध लड़ना ही चाहिए। हाँ, उस समय आवेश और शत्रु के प्रति दुर्भावना नहीं हो, राग और द्वेष से रहित होकर युद्ध करो और यदि तुम अपने मन को ऐसी स्थिति में ले जा सकोगे, तो हिंसा असम्भव हो जाएगी। इस स्थिति से अगली स्थिति के विषय में उन्होंने कहा :

जो न तो किसी दूसरे प्राणी को उद्विग्न करता है, और न स्वयं ही किसी अन्य के द्वारा उद्विग्न होता है, जिससे न संसार घबराता और स्वयं भी जो संसार से नहीं घबराता, जिससे न तो लोगों को क्लेश होता है और न जो लोगों से क्लेश पाता है, जो किसी के लिए भी कष्ट का कारण नहीं बनता और न कोई उसे कष्ट का अनुभव करा पाता है, जो हर्ष और क्रोध से, भय और विषाद से अलिप्त है, वही भक्त मुझे प्रिय है।[१] यही स्व और पर की अहिंसा है।"

---

१. यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥—१२।१५।

अहिंसा : जैन-दृष्टि में :

पूर्वचर्चित प्रश्न का समाधान करते हुए जैन-दर्शन अहिंसा को दो रूपों में विभक्त कर देता है—श्रावक की अहिंसा[२] और श्रमण की अहिंसा। इन सबका स्वरूप संक्षेप में इस प्रकार है :

अहिंसा की साधना के लिए श्रावक को प्रतिज्ञा लेनी होती है कि 'मैं मन-वचन-काया से किसी भी निरपराध एवं निर्दोष त्रस प्राणी की जान-बूझकर हिंसा न स्वयं करूँगा और न दूसरों से कराऊँगा। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिरूप स्थावर जीवों की हिंसा भी व्यर्थ एवं अमर्यादित रूप में न करूँगा और न दूसरों से कराऊँगा।'

यह प्रतिज्ञा उसको कमजोर या कायर नहीं बनाती है; अन्याय को चुपचाप सहन करने के लिए भी नहीं कहती है, यह तो वीरों का धर्म है। इससे जीवन-व्यवहार में कोई भी बाधा नहीं आती है और जीवन सुख-पूर्वक व्यतीत होता है। दुर्बल को सताना नहीं और स्वयं भी किसी से त्रस्त नहीं होना, अन्याय का मुकाबला करना, इसमें निहित है।

दोनों प्रकार की अहिंसा का स्वरूप समझने के बाद अब यह समझना आवश्यक है कि लोग हिंसा क्यों करते हैं? और हिंसा क्यों नहीं करनी चाहिए? अहिंसा का क्या महत्त्व है?

प्रश्नव्याकरण सूत्र में कहा है—कुछ लोग प्रयोजनवश हिंसा करते हैं और कुछ लोग बिना प्रयोजन के भी हिंसा करते हैं। कुछ लोग क्रोधवश हिंसा करते हैं, कुछ लोभवश हिंसा करते हैं और कुछ अज्ञानवश हिंसा करते हैं।[३] किंतु किसी भी जीव को त्रास-कष्ट नहीं देना चाहिए।[४] क्योंकि सब सचेतन प्राणियों को जीवन प्रिय है, सुख सबको अच्छा लगता है और दुःख बुरा। वध सबको अप्रिय

---

२. आवश्यक सूत्र।

३. अट्ठा हणंति, अणट्ठा हणंति। कुद्धा हणंति,
लुद्धा हणंति, मुद्धा हणंति। —प्रश्नव्याकरणसूत्र १-१

४. न य वित्तासए परं। —उत्तरा० २।२.

है और जीवन प्रिय। अतः किसी भी प्राणी की हिंसा मत करो।[५] ज्ञानी होने का सार यही है कि किसी भी प्राणी की हिंसा न की जाए। अहिंसा ही धर्म का सार है। बस इतनी बात सदैव ध्यान में रखनी चाहिए।[६] पर-पीड़ा में लगे हुए अज्ञानी जीव, एक तो अन्धकार से अन्धकार की ओर जाते हैं[७] और दूसरे, इस प्रकार वैर की परम्परा चल पड़ती है। वैर वृत्ति वाला व्यक्ति जब देखो तब वैर ही करता रहता है। वह एक के बाद एक किए जाने वाले वैर से वैर को बढ़ाते रहने में ही रस लेता है।[८] जो वैर की परम्परा को लम्बा किए रहते हैं, वे नरक को प्राप्त होते हैं।[९] तथा जो भय और वैर से उपरत हैं, मुक्त हैं, वे किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करते।[१०] इसलिए साधक को किसी भी प्राणी से वैर-विरोध नहीं बढ़ाना चाहिए।[११]

स्वरूप-दृष्टि से सब चैतन्य एक समान हैं। यह अद्वैत भावना ही अहिंसा का मूलाधार है।[१२] भ० महावीर के शब्दों में अहिंसा

---

५. (क) सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया, दुहपडिकूला,
अप्पियवहा, पियजीविणो, जीविउ कामा, सव्वेसिं जीवियं
पियं, नाइवाएज्ज कंचणं। —आचारांग १।२।३

(ख) सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणिवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं॥
—दश वै० ६।११

६. एयं खु णाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचणं।
अहिंसा समयं चेव, एतावन्तं वियाणिया॥
—सूत्रकृतांग १।१।४।१०

७. तमाओ ते तमं जंति, मंदा आरंभनिस्सिया।
—सूत्रकृतांग १।१।१।१४

८. वेराइं कुव्वइ वेरी, तओ वेरेहिं रज्जति। —सूत्रकृतांग १।८।७

९. वेराणुबद्धा नरयं उवेंति। —उत्तरा० ४।२

१०. न हणे पाणिणो पाणे, भयवेराओ उवरए। —उत्तरा० ६।७

११. भूएहिं न विरुज्झेजा —सूत्र कृतांग १।१५।४

१२. तुमंसि नाम तं चेव, जं हंतव्वं ति मन्नसि।
तुमंसि नाम तं चेव, जं अज्जावेयव्वं ति मन्नसि॥
तुमंसि नाम तं चेव, जं परियावेयव्वं ति मन्नसि।
—आचारांग १।५।५

'भगवती' है।[१३] इस भगवती की शरण स्वीकार किए विना साधक आगे नहीं बढ़ सकता।

अहिंसा : बौद्ध दृष्टि में :

अहिंसा का स्वर बौद्ध संस्कृति में इस रूप में प्रतिध्वनित होता है:

सभी प्राणी सुख चाहते हैं, जो अपने सुख की इच्छा से दूसरे प्राणियों की हिंसा करता है, उसे न यहाँ सुख मिलता है और न परलोक में।[१४]

जैसा मैं हूं, वैसे ही ये सब प्राणी हैं, और जैसे वे सब प्राणी हैं, वैसा ही मैं हूँ—इस प्रकार अपने समान सब प्राणियों को समझकर न स्वयं किसी का बध करे और न दूसरे से कराए।[१५]

प्रणियों की हिंसा करने वाले को अनार्य कहा गया है। दयाहीन व्यक्ति शूद्र की भाँति समझा जाता है।[१६]

जो प्राणियों की हिंसा करता है, वह आर्य नहीं होता, सभी प्राणियों के प्रति अहिंसा भाव रखने वाला ही आर्य कहा जाता है।[१७] मैत्री और स्नेह से जो प्राणियों को जीत लेता है, उसी

---

१३. भगवती अहिंसा·······भीयाणं विव सरणं। —प्रश्नव्याकरण० २।१

१४. (क) सुखकामानि भूतानि, यो दण्डेन विहिंसति।
अत्तनो सुख-मेसानो, पेच्च सो न लभते सुखं॥
—धम्मपद १०।३

(ख) सुत्तपिटक २।३

१५. यथा अहं तथा ऐते, यथा ऐते तथा अहं।
अत्तानं उपमं कत्वा, न हनेय्य न घातये॥
—सुत्तनिपारुत ३।३७।२७

१६. यस्स पाणे दया नत्थि, तं जञ्ञा वसलो इति॥
—सुत्तनिपात १।७।२

१७. न तेन अरियो होति, येन पाणानि हिंसति।
अहिंसा सब्बपाणान, अरियो ति पवुच्चति॥
—धम्मपद १६।१५

को जय प्राप्त होती है।[18] अतएव विना किसी दण्ड और शस्त्र के, केवल अहिंसा के वल पर ही पृथ्वी को जीतना चाहिए।[19]

अहिंसा को दूसरे शब्दों में करुणा भी कहा जा सकता है और जब हम इस शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करते हैं तो प्रतीत होता है कि 'दूसरे का दुःख होने पर जो सज्जनों के हृदय को कँपा दे, उसे करुणा कहते हैं। दूसरे के दुःख को खरीद लेती है अथवा नष्ट कर देती है, इसलिए भी करुणा, करुणा है।[20]

इस प्रकार अहिंसा-सिद्धान्त का पर्यालोचन करते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अहिंसा की प्रतिष्ठा के लिए हमें अपने हृदय में प्राणिमात्र के उत्कर्ष, विकास और कल्याण की मङ्गलमयी भावना को उद्‌वुद्ध करना चाहिए। विश्व के समस्त प्राणियों के साथ असीम मैत्री की भावना को वढ़ाना चाहिए।[21]

'विश्व के सव प्राणी सुखी हों',[22] 'सुमन हों, प्रसन्न हों',[23] 'वैर से रहित हों, कोई वैर न रखे। कोई दुःख न पाए।'[24]

अनासक्तिपूर्ण कर्ममार्ग : वैदिक-धारा

"कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥२।४७।

इस प्रसिद्ध श्लोक में अनासक्ति का मूल सिद्धान्त विद्यमान है। यह श्लोक इस संसार में मनुष्य को ऐसा पूर्ण सक्रिय जीवन विताने

---

१८. जेतारं लभते जयं। —संयुत्तनिकाय १।३।१५

१९. अदण्डेन असत्थेन, विजेय्य पथवि इमं। —अंगुत्तरनिकाय ७।६।६

२०. परदुक्खे सति साधूनं हृदय-कम्पनं करोतीति करुणा।
किणाति वा परदुक्खं, हिंसति विनासेतीति करुणा ॥
—विसुद्धिमग्ग ६।६२

२१. मेत्तं च सव्वलोकस्मि, मानस भावये अपरिमाणं।
—सुत्तनिपात १।८।८

२२. सव्वे सत्ता भवन्तु सुखितत्ता। —सुत्तनिपात १।८।३

२३. सव्वे व भूता सुमना भवन्तु। —खुद्दक पाठ ६।१

२४. सव्वे सत्ता अवेरिनो होन्तु, मा वेरिनो।
सुखिनो होन्तु, मा दुक्खिनो। —पटिसम्भिदामग्गो।२।४।२।६

का उपदेश देता है, जिसमें उसका आन्तरिक जीवन परमात्मा के साथ जुड़ा हुआ हो। यह एक सुविदित दृष्टिकोण है कि प्रत्येक कर्म कर्त्ता के अहंकार को पुष्ट करता है और जहाँ अहंकार है, वहाँ मुक्ति कैसी ? परन्तु, इस श्लोक में, हमें पूर्ण मुक्ति प्राप्त करने और इस संसार में कार्य करते रहने में सहायता देने के लिए दुहरा प्रयोजन विद्यमान है।

गीता के सारे उपदेश में कर्म की आवश्यकता पर बल दिया गया है।[२५] इसमें यह स्पष्ट किया गया है कि मनुष्य को न केवल सामाजिक प्राणी के रूप में, अपितु आध्यात्मिक भवितव्यता वाले एक व्यक्ति के रूप में क्या कुछ करना चाहिए। गीता का गुरु कर्म की अत्यधिक सूक्ष्मता की ओर संकेत करता है।[२६] हमारे लिए कर्म से बचे रहना सम्भव नहीं है। कर्म को त्याग देना भी वांछनीय नहीं है। जड़ता स्वतन्त्रता नहीं है। फिर, किसी कर्म-बन्धन का गुण केवल उस कर्म को कर देने भर में ही निहित नहीं है, अपितु उस प्रयोजन या इच्छा में निहित है, जिससे प्रेरित होकर कर्म किया जाता है। गीता इच्छाओं से विरक्त होने का उपदेश देती है, कर्म को त्याग देने का नहीं। वह कहती है कि जो व्यक्ति आसक्ति को त्याग कर, अपने कर्मों को ब्रह्म को समर्पित करके कर्म करता है, उसे पाप उसी प्रकार स्पर्श नहीं करता, जैसे कमल का पत्ता पानी से अछूता ही रहता है।[२७]

यदि हम कर्म के फल में अनासक्ति की और परमात्मा के प्रति समर्पण की भावना को विकसित कर लें, तब हम कर्म करते हुए भी उससे अलिप्त रह सकते हैं। जो व्यक्ति इस भावना से कार्य करता है, वह नित्य संन्यासी है।[२८] इसलिए व्यक्ति को चाहिए कि वह अनासक्त

---

२५. २।३८, ३।८, ३।११, ४।१५, ४।१८, ८।७, ११।३३, १६।२४, १८।६ आदि।

२६. कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं, बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं, गहना कर्मणो गतिः॥ —४।१७

२७. ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥ —५।१०

२८. ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥ —५।३

होकर सदा करने योग्य कर्मों को करता रहे, क्योंकि अनासक्त रहकर कर्म करता हुआ मनुष्य परम-पद को प्राप्त करता है।[२९]

इस प्रकार गीता का आदर्श संसार में फँसे विना भी संसार की सव सम्भावनाओं में मेल विठाने वाला है। गीता का साधक कर्मों को करता है किंतु फिर भी कर्मों का करने वाला नहीं है।

अनासक्ति : जैन धारा

साधना के लिए आसक्ति जहरीला कीड़ा है। कितनी ही ऊँची साधना हो, यदि आसक्ति है तो वह उसे अन्दर ही अन्दर खोखला कर देती है। इसलिए साधक को हर प्रकार की आसक्ति से रहित होकर समभावपूर्वक विचरण करना चाहिए।

उत्तराध्ययन सूत्र में वीतराग भगवान् की वाणी गूँज रही है :

"जो लाभ-अलाभ, सुख-दुख, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशंसा और मान-अपमान में समभाव रखता है, वही वस्तुतः मुनि है।"[३०]

'आत्म-साधक ममत्व के वन्धन को तोड़ फेंके जैसे कि सर्प शरीर पर आई हुई केंचुली को उतार फेंकता है।[३१] यह ममकार ही मोह है और यही कर्म उत्पन्न करने का मूल कारण है। कर्म ही जन्म-मरण का मूल है। यदि जन्म-मरण से छुटकारा पाना हो तो आसक्ति को दूर करो।'

जव हम सीमित अहंकार के प्रति अपने राग को त्याग देते हैं और अपने कर्मों को शाश्वतता के प्रति समर्पित कर देते हैं, तव हम उस आत्मा के लिए कार्य करते हैं, जो हम सवमें विद्यमान है। जव तक निरपेक्ष त्याग नहीं होता है, तव तक साधक की चित्तशुद्धि नहीं होती है और जव तक चित्तशुद्धि नहीं होती है, तव तक कर्म-क्षय कैसे हो सकता है?[३२] चित्तशुद्धि के लिए ही भगवान् ने सर्वत्र

---

२९. असक्तोह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः। —३।१९

३०. लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा।
समो निन्दापसंसासु, तहा माणवमाणओ॥ —उत्तरा० १९।९१

३१. ममत्तं छिन्दए ताए, महानागोव्व कंचुयं। —उत्तरा० १९।८७

३२. णहि णिरवेक्खो चागो, ण हवदि भिक्खुस्स आसयविशुद्धी।
भविसुद्धस्स हि चित्ते, कहं णु कम्मक्खओ होदि॥—प्रवचन ३।२०

निष्कामता को श्रेष्ठ बताया है।[33] जो निष्काम होता है, वह न मृत्यु से ग्रस्त होता है और न शाश्वत सुख से दूर।[34] जिस प्रकार अग्नि पुराने सूखे काठ को शीघ्र ही भस्म कर डालती है, उसी प्रकार आत्म-समाहित निस्पृह साधक कर्मों को कुछ ही काल में नष्ट कर डालता है।[35] जो इस लोक से निरपेक्ष है, अर्थात् इस लोक की यश-प्रतिष्ठा आदि के लिए कर्म नहीं करता; परलोक में भी अप्रतिबद्ध-अनासक्त है अर्थात् परलोश में सुखादि की कामना से अभिभूत होकर कर्म नहीं करता, वही सच्चा श्रमण है।[36] जिस साधक की अन्तरात्मा भावनायोग (निष्काम-साधना) से शुद्ध है, वह जल में नौका के समान है, अर्थात् वह संसार-सागर को तैर जाता है, उसमें डूबता नहीं है।[37] साथ ही वह अन्य मनुष्यों के लिए भी चक्षु के समान पथ-प्रदर्शक बन जाता है।[38]

जिस प्रकार कीचड़ में पड़ा हुआ सोना कीचड़ से लिप्त नहीं होता, उसे जंग नहीं लगता है, उसी प्रकार ज्ञानी संसार के पदार्थ समूह में विरक्त होने के कारण कर्म करता हुआ भी कर्म से लिप्त नहीं होता।[39]

किन्तु जिस प्रकार लोहा कीचड़ में पड़कर विकृत हो जाता है, उसे जंग लग जाता है, उसी प्रकार अज्ञानी पदार्थों में रागभाव रखने के कारण कर्म करते हुए विकृत हो जाता है, कर्म से लिप्त

---

३३. सव्वत्थ भगवया अनियाणया पसत्था ॥ —स्थानांग ६।१

३४. नेव से अन्तो नेव दूरे। —आचारांग १।५।१

३५. जहा जुन्नाइं कट्ठाइं हव्ववाहो पमत्थइ. एवं अत्तसमाहिए अणिहे। —आचारांग १।४।३

३६. इहलोगणिरावेक्खो, अप्पडिवद्धो परम्मि लोयम्हि।—प्रवचन० ३।२६

३७. भावणाजोगसुद्धप्पा, जले णावा व आहिया। —सूत्रकृतांग १।१५।५

३८. से हु चक्खू मणुस्साणं, जे कंखाए य अन्तए। —सूत्र० १।१५।१४

३९. णाणी रागप्पजहो, सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
णो लिप्पइ रजएण दु, कद्दममज्झे जहा कणयं॥
—समयसार २१८

हो जाता है।[४०] इसलिए कर्म करो, किन्तु मन को दूषित न होने दो।[४१]

यह सब अनासक्ति की महिमा है।

अनासक्ति : बौद्धधारा

अस्तित्व के उच्चतर स्तरों पर आरोहण निष्कामकर्म द्वारा ही किया जा सकता है। कर्म में आसक्ति ही संसार का बन्धन है।[४२] आसक्त मनुष्य आसक्ति के कारण नाना प्रकार के दुःख पाता है।[४३] उसका चित्त चंचल बना रहता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति संसार में अनासक्त होकर विचरण करते हैं, उनका चित्त चंचल नहीं होता,[४४] क्योंकि उनके लिए न कोई प्रिय है और न कोई अप्रिय।[४५] जिसको कर्म के प्रति आसक्ति नहीं है, उसको कर्म का विपाक भी स्पर्श नहीं करता; आसक्तिपूर्वक कर्म करने वाले को ही कर्म विपाक का स्पर्श होता है।[४६] जिस प्रकार कमल के पत्ते पर पानी नहीं टिकता, उसी प्रकार मुनि दृष्ट, श्रुत एवं मूर्त में आसक्त नहीं होता।[४७] अप्रमत्त साधक रूपों में राग नहीं करता, रूपों को देखकर स्मृतिमान् रहता है, विरक्त चित्त से वेदन करता है, उनमें अलग्न—अनासक्त

---

४०. अण्णाणी पुण रत्तो, सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
लिप्पदि कम्मरएण दु, कद्दममज्झे जहा लोहं ॥ —समयसार २१९

४१. चित्तं न दूषयितव्यं। —सूत्रकृतांग टीका १।२।२

४२. नंदीसंयोजनो लोको। —सुत्तनिपात ५।६८।५

४३. रत्तो रागाधिकरणं विविधं विन्दते दुक्ख। —थेरगाथा १६।७३४

४४. निस्सितस्स चलितं, अनिस्सितस्स चलितं नत्थि। —उदान ८।४

४५. छन्दे सति पियाप्पियं होति।
छन्दे असति पियाप्पियं न होति। —दीघनिकाय २।८।३

४६. नाफुसंतं फुसति, फुसन्तं च ततो फुसं। —संयुत्तनिकाय १।१।२२

४७ उदबिंदु यथापि पोक्खरे, पदुमे वारि यथा न लिप्पति।
एवं मुनि नोपलिप्पति, यदिदं दिट्ठसुतं मुतेसुवा ॥
—सुत्तनिपात ४। ४४। ९।

रहता है। अतः उसका बन्धन घटता ही है, बढ़ता नहीं।[४८] क्योंकि न तो चक्षु रूपों का बन्धन है और न रूप ही चक्षु के बन्धन हैं। किन्तु वहाँ जो दोनों के प्रत्यय निमित्त से छन्द राग (आसक्ति) उत्पन्न होता है, वस्तुतः वही बन्धन है।[४९] अतएव ज्ञानी साधक को देखने में देखना भर होगा, सुनने में सुनना भर होगा····जानने में जानना भर होगा,[५०] अर्थात् वह रूपादि का ज्ञाता-द्रष्टा होगा, उनमें रागासक्त नहीं। यहाँ तक कि साधक को किसी वाद में भी आसक्त नहीं होना चाहिए। जो किसी वाद में आसक्त है, उसकी चित्तशुद्धि नहीं हो सकती।[५१] अतः साधक जल से लिप्त न होने वाले कमल के समान अनासक्त भाव से विचरे।[५२] स्मृति का सार ही अनासक्ति है।[५३]

गीता-साधना-पद्धति :

इहलोक और परलोक में जीवन को निर्मल और सुखद बनाने के लिए तथा पूर्णता के लक्ष्य तक पहुँचने के लिए वैदिक-साधना के तीन विभिन्न मार्ग हैं—ज्ञान, श्रद्धा (भक्ति, उपासना) और कर्म। ज्ञान का अर्थ है—अध्यात्मविद्या। अध्यात्मविद्या भगवान् के परम-आनन्द को पाने का मार्ग है। यह कोई बौद्धिक अभ्यास या सामा-

---

४८. न सो रज्जति रूपेसु, रूपं दिस्वा पटिस्सतो।
विरत्तचित्तो वेदेति, तं च नाज्झोस तिट्ठति॥
यथास्स पस्सतो रूपं, सेवतो चापि वेदनं।
खीयति नोपचीयति, एवं सो चरती सतो॥
—संयुत्तनिकाय ४।३५।९५

४९. न चक्खु रूपानं संयोजनं, न रूपा चक्खुस्स संयोजनं।
यं च तत्थ तदुभयं पटिच्च उपज्जति छन्दरागो तं तत्थ संयोजनं॥
—संयुक्त ४।३५।२३२

५०. दिट्ठे दिट्ठमत्तं भविस्सति, सुते सुतमत्तं भविस्सति।····
विञ्ञाते विञ्ञातमत्तं भविस्सति। —संयुत्तनिकाय ४।३५।९५

५१. निविस्सवादी नहि सुद्धि नायो। —सुत्तनिपात ४।५१।१६

५२. पदुमंऽव तोयेन अलिप्पमाणो। ,, १।३।३७

५३. समिद्धि किं सारा ? विमुत्तिसारा ! —अंगुत्तरनिकाय ९।२।४

जिक अभियान नहीं है। यह तो उद्धार करने वाले ज्ञान का मार्ग है और इसीलिए इसकी साधना गंभीर धार्मिक निष्ठा के साथ करनी होती है। आत्मा का विज्ञान हमें उस अज्ञान पर विजय पाने में सहायता देता है, जो हमसे परमात्मस्वरूप को छिपाए हुए है, जो दुःख का मूल कारण है। इसीलिए गीता में कहा है—'अध्यात्मविद्या विद्यानाम्' विद्याओं में अध्यात्मविद्या ही सर्वश्रेष्ठ है (१०।३२)। इस एक का परिज्ञान होने पर कुछ भी ज्ञातव्य शेष नहीं रह जाता।[५४] जिस व्यक्ति को ज्ञान हो जाता है, वह सच्चे अर्थों में स्वाधीन हो जाता है; वह अपने आन्तरिक प्रकाश के अतिरिक्त किसी अन्य शक्ति से मार्ग प्रदर्शन के लिए नहीं कहता। अध्यात्मविद्या ही राजविद्या है।[५५]

ज्ञान का महत्त्व :

ज्ञान का माहात्म्य बताते हुए कहा गया है कि—"इस पृथ्वी पर ज्ञान के सदृश पवित्र वस्तु और कोई नहीं है। जो व्यक्ति योग द्वारा पूर्णता को प्राप्त हो जाता है, वह समय आने पर स्वयं अपने अन्दर ही अपने इस ज्ञान को प्राप्त कर लेता है। तात्पर्य यह है कि आत्मसंयम से यह ज्ञान अन्त में मनुष्य के मन में प्रकट हो जाता है।[५६]

"हे अर्जुन ! जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि अपने ईंधन को राख कर देती है, उसी प्रकार ज्ञान की अग्नि भी सब कर्मों को भस्मसात् कर देती है।[५७]

"चाहे तू सब पापियों से भी बढ़कर पापी क्यों न हो, फिर भी तू केवल ज्ञान की नाव द्वारा सब पापों के पार पहुँच जाएगा।[५८]

---

५४. यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते। ७।२

५५. ९।२

५६. न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥ —४।३८

५७. यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥ —४।३७

५८. अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥ —४।३६

अपनी बुद्धि से आरम्भ किये हुए निष्काम कर्मों के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति कर लेना ज्ञानप्राप्ति का मुख्य या बुद्धिगम्य मार्ग है। परन्तु जो स्वयं इस प्रकार अपनी बुद्धि से ज्ञान प्राप्त न कर सके, उसके लिए अब श्रद्धा का दूसरा मार्ग बतलाते हैं।

श्रद्धा :

ज्ञान प्राप्त करने के लिए श्रद्धा आवश्यक है। श्रद्धा अन्ध-विश्वास नहीं है ; हाँ, विश्वास, अन्धविश्वास भी हो सकता है।

'सत्यं दधातीति श्रद्धा'—जो सत्य को धारण करे उसे श्रद्धा कहते हैं। यह आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए महत्त्वपूर्ण साधन है। यदि श्रद्धा स्थिर हो, तो हमें ज्ञान की प्राप्ति तक पहुँचा देती है। ज्ञान, परम-ज्ञान के रूप में संदेहों से रहित होता है, जब कि बौद्धिक ज्ञान में, जिसमें हम इन्द्रिय-प्रदत्त जानकारी पर और तर्क से निकले निष्कर्षों पर निर्भर हैं, सन्देहों और अविश्वासों का स्थान रहता है। इसलिए ज्ञान तक पहुँचने का मार्ग श्रद्धा और आत्मसंयम में से होकर है। जिस व्यक्ति में श्रद्धा है, जो ज्ञान को पाने में तत्पर है और जिसने अपनी इन्द्रियों को वश में कर लिया है, वह ज्ञान को प्राप्त करता है और ज्ञान को प्राप्त करके वह शीघ्र ही परम-शान्ति को प्राप्त करता है।[५९] परन्तु जो मनुष्य अज्ञानी है, जिसमें श्रद्धा नहीं है और जो संशयालु स्वभाव का है, वह नष्ट होकर रहता है। संशयालु स्वभाव वाले व्यक्ति के लिए न तो यह लोक है और न परलोक और न उसे सुख ही प्राप्त हो सकता है।[६०] मनुष्य को चाहिए कि वह ज्ञान द्वारा संशयों को नष्ट करदे[६१] और श्रद्धा को स्थिर करे।

कर्म (चारित्र) :

गीता के चतुर्थ अध्याय के सिद्धान्त पर यह प्रश्न होता है कि यदि समस्त कर्मों का पर्यवसान ज्ञान है (४।३३), यदि ज्ञान से

५९. श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ —४।३९

६०. अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो, न सुखं संशयात्मनः ॥ —४।४०

६१. ज्ञानसंछिन्नसंशयम् । —४।४१

ही सम्पूर्ण कर्म भस्म हो जाते हैं (४।३७) और यदि द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ ही श्रेष्ठ है (४।३३)[६२] तो फिर कर्म की महत्ता पर वल क्यों दिया गया है ? कर्म की पद्धति को आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए सहायक अङ्ग के रूप में प्रस्तुत क्यों किया गया है ? यही प्रश्न ५ वें अध्याय के प्रारम्भ में अर्जुन ने श्रीकृष्ण से पूछा है। उत्तर देते हुए कृष्ण ने कहा : 'कर्मों का संन्यास और उनका निःस्वार्थ रूप से करना, दोनों ही आत्मा को मुक्ति की ओर ले जाने वाले मार्ग हैं। परन्तु इन दोनों में कर्मों को त्याग देने की अपेक्षा कर्मों का निःस्वार्थ रूप से करना अधिक अच्छा है।[६३] दोनों मार्ग एक-दूसरे के विरोधी नहीं है। पहली पद्धति (सांख्य पद्धति) में हम विजातीय तत्त्वों को विचार द्वारा दूर हटाकर आत्मा का ज्ञान प्राप्त करते हैं; दूसरी पद्धति (योगपद्धति) में हम उन्हें संकल्पात्मक प्रयत्न द्वारा दूर हटा देते हैं। कर्मों का त्याग करने वाले मनुष्य जिस स्थिति तक पहुँचते हैं, कर्म करने वाले भी उसी स्थिति तक पहुँच जाते हैं। जो व्यक्ति इस बात को देख लेता है कि संन्यास और कर्म दोनों के मार्ग एक ही हैं; वही सही देखता है।[६४] सच्चा संन्यासी वह नहीं है, जो पूर्णतया निष्क्रिय रहता है, अपितु वह है, जो प्राप्त कर्मों को अनासक्ति की भावना से करता है।

जिस व्यक्ति ने कर्ममार्ग में प्रशिक्षण पाया है, जिसकी आत्मा शुद्ध है, जो अपनी आत्मा का स्वामी है, जिसने अपनी इन्द्रियों को जीत लिया है, जिसकी आत्मा सब प्राणियों की आत्मा बन गई है, वह सब कर्म करता हुआ भी (कर्मों के पुण्य-पाप से) अलिप्त रहता है।[६५] देखते हुए, सुनते हुए, छूते हुए, सूँघते हुए, चखते हुए, चलते

---

६२. श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप !
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ —४।३३

६३. संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ —५।२

६४. यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ —५।५

६५. योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ —५।७

हुए, सोते हुए और साँस लेते हुए वह यही समझता है कि 'मैं कुछ नहीं कर रहा।'[६६] बोलते हुए, विसर्जन करते हुए, पकड़ते हुए, यहाँ तक कि निमेष और उन्मेष करते हुए भी वह यह समझता है कि केवल इन्द्रियाँ इन्द्रियों के विषयों में लगी हुई हैं।[६७] योगी लोग (कर्मयोगी) आसक्ति को त्याग कर आत्मा की शुद्धि के लिए केवल शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों द्वारा कार्य करते हैं।[६८]

योग में लगी हुई आत्मा कर्म के फलों में आसक्ति को त्याग कर दृढ़ आधार वाली शान्ति को प्राप्त करती है।[६९]

ज्ञान, भक्ति और कर्म की एकरूपता :

संक्षेप में यों समझा जा सकता है कि जिसने योग द्वारा सब कर्मों को त्याग दिया है, जिसने ज्ञान द्वारा सब संशयों को नष्ट कर दिया है और जिसने अपनी आत्मा पर अधिकार कर लिया है, उसको कर्म बन्धन में नहीं डालते।[७०]

उस परमात्मभाव का विचार करते हुए, अपनी सम्पूर्ण चेतनसत्ता को उसकी ओर प्रेरित करते हुए, उसे अपना सम्पूर्ण उद्देश्य बनाते हुए, उसे अपनी भक्ति का एकमात्र लक्ष्य बनाते हुए, वे ज्ञानी पुरुष उस दशा तक पहुँच जाते हैं, जहाँ से वापस नहीं लौटना होता, और उनके पाप ज्ञान द्वारा धुलकर साफ हो जाते हैं।[७१]

इस प्रकार अन्त में जाकर ज्ञान, श्रद्धा (भक्ति) और कर्म परस्पर मिल जाते हैं।

जैन-साधना-पद्धति :

जैन-दर्शन साधना का दर्शन है। साधना का साध्य है मोक्ष,

---

६६. नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्। —५।८

६७. प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥ —५।९

६८. कायेन मनसा ... आत्मशुद्धये॥ —५।११

६९. युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्। —५।१२

७०. योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय॥ —४।४१

७१. तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥ —५।१७

मुक्ति, निर्वाण। जब हम जैनदर्शन की गहराई में पहुँचते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि साधना के विषय पर कितनी सूक्ष्मता से चिन्तन-मनन किया गया है। ऊपर-ऊपर से देखें तो ऐसा लगता है कि मुक्ति (साध्य) प्राप्ति के मार्ग (साधन) जैन-दर्शन में अनेकों दर्शाए गए हैं। कहीं पर ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इन चारों को मोक्ष का मार्ग बताया गया है।[७२] तो कहीं पर ज्ञान दर्शन, चारित्र—इन तीनों को मुक्तिमार्ग बताया है[७३] और कहीं पर केवल ज्ञान और चारित्र से ही मुक्ति प्राप्ति कराई गई है।[७४] पर वास्तव में इनमें कोई भेद नहीं है। यह विविधता केवल समझाने के लिए है। तप का अन्तर्भाव चारित्र में कर लेने पर साधना त्रिरूप होती है क्योंकि जिस साधना से पापकर्म तप्त होता है, वह तप है[७५] और चारित्र भी तो कर्मनाश करता ही है; अज्ञान से संचित कर्मों के उपचय को रिक्त करना चारित्र है।[७६] अतः तप का अन्तर्भाव चारित्र में हो जाता है। दर्शन का अन्तर्भाव ज्ञान में कर देने पर साधना द्विरूप होती है। क्योंकि दर्शन अर्थात् श्रद्धा के अभाव में ज्ञान, सम्यक्ज्ञान नहीं हो सकता है। अतएव ज्ञान शब्द से ज्ञान

---

७२. नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गो त्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं। —उत्तरा० २८।२

७३. (क) सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। —तत्त्वार्थसूत्र १।१
(ख) तिविहे सम्मे पण्णत्ते, तंजहा-णाणसम्मे, दंसणसम्मे, चरित्तसम्मे।
—स्थानांग ३।४।११४
(ग) परमार्थतस्तु ज्ञानदर्शनचारित्राणि मोक्षकारणं, न लिंगादीनि।
—उत्त० चू० २३

७४. (क) आहंसु विज्जाचरणं पमोक्खं। —सूत्रकृताङ्ग सूत्र १।१२।११
(ख) दुविहे धम्मे-सुयधम्मे चेव चरित्तधम्मे चेव। —स्थानांग २।१
(ग) नाणेण य करणेण य दोहिं वि दुक्खक्खयं होइ।
(घ) नाणकिरियाहिं मोक्खो। —विशेषावश्यक भाष्य, गाथा ३
—मरणसमाधि १४७

७५. तप्पते अणेण पावं कम्ममिति तपो। —निशीथचूर्णि ४६

७६. अण्णाणोवचियस्स कम्मचयस्स रित्तीकरणं चारित्तं।
—निशीथ चूर्णि ४६

और दर्शन दोनों का ग्रहण करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि चाहे मार्ग चतुःस्वरूप हो, चाहे त्रिरूप अथवा द्विरूप हो, किंतु परस्पर विरोधी नहीं हैं।

एक बात विशेष है, जो जैन-दर्शन की अपनी मौलिकता है, वह यह है कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप आदि सभी साधनाएँ सम्यक् होनी चाहिएँ, मिथ्या नहीं। जब ये साधनाएँ आत्माभिमुखी होती हैं, तब सम्यक् कहलाती हैं और जब इहलौकिक तथा पारलौकिक सुख-समृद्धि, यशप्रतिष्ठा आदि के लिए की जाती हैं, तब इन्हें मिथ्या कहा जाता है। मिथ्या-साधना मुक्ति के बदले बन्धन का कारण है, संसाराभिवृद्धि का हेतु है।

इसलिए जैन-दर्शन में जहाँ-जहाँ भी ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि का वर्णन हो, वहाँ-वहाँ 'सम्यक्' शब्द यदि न भी कहा गया हो, तो भी सम्यक् समझना चाहिए। वैसे तो केवल 'ज्ञान' शब्द भी कुज्ञान का विरोधी होने से अपने अन्दर सम्यक्त्व लिए हुए है, अतः अज्ञान की व्यावृत्ति हो जाती है। इसी प्रकार दर्शन, कुदर्शन की व्यावृत्ति करता है और चारित्र कुचारित्र की।

बौद्ध-साधना-पद्धति :

सम्पूर्ण कर्म-क्लेशों से मुक्ति प्राप्त करना ही मूल साधना है। साधक निरासक्त भाव से उस चरम-परिणति की साधना करता है। बौद्ध-साधना में भी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए श्रद्धा, प्रज्ञा और शील की प्राप्ति आधारभूत मानी गई है। उन्हें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र भी कहा गया है। मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र को बाधक माना गया है। इस बाधा को दूर करना साधना का परम लक्ष्य है।

श्रद्धा :

श्रद्धा अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्दृष्टि। बौद्ध-धर्म में चतुरार्य-सत्यों का समझना ही सम्यग्दृष्टि है।[७७] उसके विना मुक्ति-प्राप्ति सम्भव नहीं। भ० बुद्ध ने कहा था 'भिक्षुओ! जिस समय आर्य-श्रावक दुराचरण के मूल कारण को जान लेता है, सदाचरण को

---

७७. सम्मादिट्ठि सुत्तन्त —मज्झिमनिकाय १।१।९

पहचान लेता है, तब उसकी दृष्टि सम्यक् कहलाती है।[७८] इसी से समभाव प्राप्त हो जाता है।

प्रज्ञा :

बौद्धधर्म में प्रज्ञा को सम्यग्ज्ञान भी कहते हैं। धर्म के स्वभाव का विशिष्ट ज्ञान प्रज्ञा है।[७९] दृष्टि के संक्लेश का विशोधन प्रज्ञा से ही होता है।[८०] प्रज्ञा-प्राप्ति का उपाय बताते हुए कहा है—सत्पुरुषों के ही साथ बैठने, सत्पुरुषों के ही साथ मिलने-जुलने और सत्पुरुषों के अच्छे धर्मों (कर्त्तव्यों) को जानने से ही प्रज्ञा की प्राप्ति होती है, अन्यथा नहीं।[८१] तथा, जिज्ञासा से ज्ञान बढ़ता है, ज्ञान से प्रज्ञा बढ़ती है।[८२] श्रद्धा से ज्ञान को बड़ा कहा गया है।[८३]

प्रज्ञा मनुष्यों का रत्न है।[८४] प्रज्ञावान् मनुष्य दुःख में भी सुख का अनुभव करता है।[८५] प्रज्ञामय जीवन को ही श्रेष्ठ जीवन कहा है।[८६] प्रज्ञा से तृप्त पुरुष को तृष्णा अपने वश में नहीं कर सकती[८७] जन्ममरण अपने बन्धन में नहीं डाल सकते।[८८] जिस प्रकार हवा से उठी हुई धूल मेघ-वृष्टि से शांत हो जाती है, उसी प्रकार प्रज्ञा से स्वरूप का दर्शन होने पर मन के विकार शांत हो जाते हैं।[८९]

---

७८. बुद्धवचन पृ० २१

७९. धम्मसभावपरिवेधलक्खणा पञ्ञा।

८०. पञ्ञाय दिट्ठिसंकिलेसविसोधनं। —विसुद्धिमग्ग १।१३

८१. सब्भिरेव समासेथ, सब्भि कुब्बेथ सन्थवं।
सतं सद्धम्ममञ्ञाय, पञ्ञा लब्भति नाञ्ञतो॥
—संयुत्तनिकाय १।१।३१

८२. सुस्सुसा सुतवद्धनी, सुतं पञ्ञाय वद्धनं। —थेरगाथा २।१४१

८३. सद्धाय, खो गहपति, भाणं येव पणीततरं।—संयुत्तनिकाय ४।४१।

८४. पञ्ञा नरानं रतनं। —संयुत्तनिकाय १।१।५१

८५. पञ्ञा सहितो नरो इध, अपि दुक्खेसु सुखानि विन्दति।
—थेरगाथा १०।५५१

८६. पञ्ञाजीविजीवितमाहु सेट्ठं। —सुत्तनिपात १।१०।२

८७. पञ्ञाय तित्तं पुरिसं, तण्हा न कुरुते वसं। —जातक १२।४६७।४३

८८. किच्छो बुद्धानुप्पादो। —धम्मपद १४।४

८९. रजमुहतं च वातेन यथा मेघोपसम्मये।
एव सम्मत्ति संकप्पा, यदा पञ्ञाय पस्सति। —धम्मपद ११।७

शील :

सम्यक्चारित्र—सम्यक् व्यायाम[९०]

प्राणातिपातादि से विरत रहने वाली मानसिक अवस्था को शील कहते हैं।[९१]

श्रद्धा और प्रज्ञा के पश्चात् तीसरा सोपान शील का है। क्योंकि प्रज्ञा से मनुष्य परिशुद्ध होता है और पराक्रम के द्वारा दुःखों से मुक्त होता है।[९२] शील रहित व्यक्ति का मात्र श्रुत (ज्ञान) से कोई अर्थ सिद्ध नहीं हो पाता।[९३] यथोचित सम्यक् प्रयत्न (सम्यक् व्यायाम) के बिना थोड़ी-सी भी प्रगति कर पाना मनुष्य के लिए कथमपि संभव नहीं है।[९४] सम्यक् प्रकार से आरम्भ किया गया कर्म ही सब सम्पत्तियों का मूल है।[९५]

भिक्षु को शीलसम्पन्न होकर विचरण करना चाहिए।[९६] शील अनुपम बल है, शील सर्वोत्तम शस्त्र है, शील श्रेष्ठ आभूषण है और शील ही रक्षा करने वाला अद्भुत कवच है।[९७]

वहुमूल्य मुक्ता और मणियों से विभूषित राजा वैसा सुशोभित नहीं होता है, जैसा कि शील के आभूषणों से विभूषित साधक सुशोभित होता है।[९८]

---

९०. विसुद्धिमग्ग ४।६६

९१. पाणातिपातादोहि वा विरमन्तस्स वत्तपटिपत्ति
वा पूरेन् तस्स चेतनादयो धम्मा। —विसुद्धिमग्ग

९२. विरियेन दुक्खं अच्चेति, पञ्ञाय परिसुज्झति।
—सुत्तनिपात १।१०।४

९३. सीलेन अनुपेतस्स,, सुतेनत्थो न विज्जति।
—जातक ५।३६७।६६

९४. हित्वा हि सम्मा वायामं, विसेसं नाम मानवो।
अधिगच्छे परित्तम्पि, ठानमेतं न विज्जति। —विसुद्धिमग्ग ४।६६

९५. सम्मा आरद्धं सब्बासंपत्तीनं मूलं होति। —विसुद्धिमग्ग १४।१३७

९६. सम्पन्नसीला, भिक्खवे, विहरथ। —मज्झिमनिकाय १।६।१

९७. सीलं बलं अप्पटिमं, सील आवुधमुत्तमं।
सीलमाभरणं सेट्ठं, सील कवचमब्भुतं। —थेरगाथा १२।६१४

९८. सोभन्तेवं न राजानो, मुत्तामणिविभूसिता।
यथा सोभंति यतिनो, सीलभूसनभूसिता। —विसुद्धिमग्ग १।२४

स्वर्गारोहण के लिए शील के समान दूसरा सोपान कहाँ है ? निर्वाणरूपी नगर में प्रवेश करने के लिए भी शील के समान दूसरा द्वार कहाँ है ?[९९]

जैन, बौद्ध एवं वैदिक संस्कृति के समवेत स्वर :

वैदिक-धारा में जिस प्रकार साधना के तीन रूप हैं—ज्ञान, कर्म और भक्ति, बौद्ध धारा में जिस प्रकार से साधना के तीन रूप हैं श्रद्धा, प्रज्ञा और शील, उसी प्रकार जैन-धारा की अध्यात्म-साधना में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—इन तीनों का गौरवपूर्ण स्थान है। क्योंकि ज्ञान से भावों (पदार्थों) का सम्यग्बोध होता है, दर्शन से श्रद्धा होती है, चारित्र से कर्मों का निरोध होता है और तप से आत्मा निर्मल होती है—**साध्वी मंजु श्रीजी**

---

९९. सग्गारोहण सोपानं अञ्ञं सीलसमं कुतो ?
द्वारं वा पन निब्बान-नगरस्स पवेसने। —विसुद्धिमग्ग १।२४

१००. नाणेण जाणइ भावे, दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झइ ।। —उत्तराध्ययन २८।३५

१९
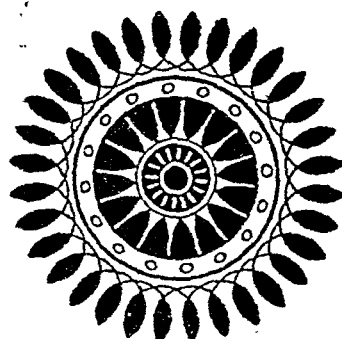
श्रमण संस्कृति के विकास में

बिहार की देन :

रत्न-प्रसू भारत-वसुन्धरा के विस्तृत आँचल में ऐसे अनेक पवित्र स्थल हैं, जहाँ मानवता के पथ-प्रदर्शक सन्तों, महात्माओं, तीर्थंकरों एवं धर्म-प्रवर्त्तकों ने जन्म-ग्रहण किया है और अज्ञानान्धकार में पड़े विश्व-मानव को ज्ञानालोक से आलोकित कर सत्य और सेवा तथा अहिंसा और प्रेम के मार्ग पर अग्रसर किया है। नगराज हिमालय के शुभ्रपार्श्व में गंगा-यमुना और सरयू के सम्पृक्त पवित्र जल से अभिसिंचित भारत-वसुधा के पूर्वोत्तर क्षेत्र की पुण्यमयी भूमि-विहार नमस्य है, जिसे विदेह, बुद्ध और वर्द्धमान महावीर को जन्म देने का गौरव प्राप्त है। बिहार के हिरण्यवाह शोण-तट, कलनादी गण्डकी के शुभ्र तट, वागमती तथा कोशी के शीतल तट तथा अन्त:सलिला फाल्गु के पवित्र तट आज भी अपने रहस्यभरे आँचल में इन महापुरुषों के तप और उनकी साधना को समेटे जिज्ञासुओं के लिए आकर्षण के केन्द्र बने हुए हैं। विहार की पवित्र भूमि अति प्राचीनकाल से ही अवतारी पुरुषों के पवित्र पदों से पूत होकर अन्य पर्यटकों और भक्तों को भी पूत करती रही है और वर्तमान काल में भी यह पावन भूमि उसी अर्थ में समादृत है, क्योंकि इसने बापू और विनोबा को महात्मा और सन्त के रूप में ख्याति दी है।

विदेह, वर्द्धमान और बुद्ध की इसी दार्शनिक चिंतनपूर्ण वसुधा ने आगे चलकर बिम्बिसार, अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त और अशोक जैसे महान् सम्राटों; महेन्द्र और संघमित्रा जैसी दिव्य सन्तानों, सरहपा, शबरपा, शांतिपा आदि सिद्धों; बाणभट्ट और विद्यापति जैसे अमर कलाकारों को जन्म दिया। भारतीय संस्कृति की प्रगति में विहार

का योगदान स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है। विदेहभूमि (मिथिला), वैशाली और मगध तीन उपक्षेत्रों में विभक्त बिहार प्राचीन काल से ही धर्म, दर्शन, कला और संस्कृति के क्षेत्र में सराहनीय योगदान देता रहा है। इस निबन्ध के लघु कलेवर में मैं "श्रमण-संस्कृति के विकास में बिहार की देन" पर ही प्रकाश डालने का संक्षिप्त प्रयास करूँगा। यह विषय इतना गहन और गम्भीर है कि इस पर लेखनी उठाने वाले को काफी सम्हल कर चलना होगा। यह विषय एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की अपेक्षा रखता है और अनुसंधित्सु बनकर ही इस विषय के साथ न्याय किया जा सकता है। फिर भी बिहार का निवासी होने के नाते तथा साहित्य और संस्कृति से थोड़ा सम्पर्क रखने के कारण जो कुछ भी मैं जान सका हूँ, उसकी एक छोटी-सी बानगी यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ।

भारतीय संस्कृति एक सामासिक संस्कृति है। यह संस्कृति एक ऐसी मिश्रित संस्कृति है, जिसे हम लाख प्रयत्न करने पर भी अलग-अलग करके नहीं देख सकते। चींटियों द्वारा एकत्र अन्न के विभिन्न कणों को थोड़े ही प्रयास में अलग करके देखा जा सकता है; किन्तु, मधुमक्खियों द्वारा एकत्र विभिन्न प्रकार के पुष्पों के रस से निर्मित मधु को बाँटकर नहीं पहचाना जा सकता कि किस-किस पुष्प का रस इसमें मिला है। भारतीय संस्कृति का रूप इसी प्रकार के शहद के समान है। फिर भी सुविधा के लिए विद्वानों ने विभिन्न विचार-धाराओं के आधार पर इसका विभाजन किया है, जिनमें दो मुख्य धाराएँ हैं—आर्य और आर्येतर। आगे चलकर ये दोनों धाराएँ इस प्रकार मिल गईं कि इनका अलग-अलग रूप ढूँढ़ पाना कठिन हो गया। आगे चल कर बौद्ध और जैन धर्मों के रूप में 'श्रमण-संस्कृति' के नाम से एक और धारा भारतीय संस्कृति की मुख्य धारा में मिलती है। आज की भारतीय संस्कृति वैदिक और श्रमण संस्कृति —इन दो संस्कृतियों का मिश्रण है, जिसमें पीछे से कई छोटी-मोटी धाराएँ मिलकर भारतीय संस्कृति को 'मानवता का पारावार' बना रही हैं।

जैसा कि ऊपर निवेदित किया गया है, बिहार अति प्राचीनकाल से ही भारतीय संस्कृति, विशेषकर श्रमण-संस्कृति के विकास में

सक्रिय योगदान देता रहा है। इतिहास-पुरुष का यह एक करिश्मा ही समझिए कि भारत का पूर्वी भाग पश्चिमी भाग की अपेक्षा अधिक क्रान्तिकारी रहा है। भारत में धर्म, दर्शन और संस्कृति के क्षेत्र में जो भी क्रांतियाँ हुई हैं, उनमें पूर्वी भारत, विशेषकर विहार सबसे आगे रहा है। इतिहास बतलाता है कि आर्यों का पहला दल जो भारत आया था, पूरब की ओर बढ़ता गया और विहार में बस गया। पीछे आने वाले आर्य स्थान पाकर पश्चिम भारत में ही रह गये। धर्म और दर्शन को लेकर नेतृत्व का झगड़ा पूर्व और पश्चिम भारत में चलने लगा। उपनिषद्काल तक आते-आते भारतीय दर्शन का नेतृत्व विहार के आर्य ही करने लगे। श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' ने 'संस्कृति के चार अध्याय' में 'पूर्वी भारत में क्रान्ति के बीज' उपशीर्षक से लिखा है—"ध्यान देने की बात है कि उपनिषदों के परम उत्कर्ष के समय, विचारों का नेतृत्व पश्चिमी नहीं, पूर्वी भारत के हाथ था और उपनिषदों के एक महान् ऋषि याज्ञवल्क्य कहीं विहार में ही रहते थे।" इससे स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार पूर्वी भारत के आर्य जड़-परम्परा से हटते रहे और भारतीय संस्कृति की मुख्य धारा में अपने सुचिन्तन और मनन का सुशीतल जल डालकर उसे विशाल और गतिशील बनाते रहे। श्रमण-संस्कृति की मानवतावादी धारा का उद्गम पूर्वी भारत विशेषकर विहार के आर्यों की इसी प्रगतिशीलता की भावना में निहित है, जिसे बिहार के दो अवतारी महापुरुषों ने—वर्द्धमान महावीर और महात्मा बुद्ध—ने अपने तपःपूत एवं साधनामय पावन जीवन के शुभ्र आलोक-शिखर से निर्झरित किया। अब मैं यह बतलाने का प्रयास करूँगा कि विहार की पवित्र भूमि ने किस प्रकार श्रमण-संस्कृति की इन दोनों धाराओं—जैन और बौद्ध-धाराओं—को समय-समय पर अपने सुचिन्तन के सुशीतल जल-धार से भरने का प्रयास किया।

जैनधारा—श्रमण संस्कृति की जैनधारा बौद्धधारा से अधिक प्राचीन है। इतिहासकारों ने यह सिद्ध कर दिया है कि यह धारा उतनी ही प्राचीन है, जितनी कि वैदिकधारा है। जैन धर्म में २४ तीर्थङ्कर हो गए हैं, जिनमें आदितीर्थङ्कर ऋषभदेव अन्तिम मनु नाभिराय के पुत्र थे। इसी से इसका पता लग जाता है कि यह धारा कितनी प्राचीन है। 'ऋग्वेद' में भी जैन धर्म के दो तीर्थंकरों–

ऋषभदेव और अरिष्टनेमि का उल्लेख मिलता है। जैन धर्म के इन चौवीस तीर्थङ्करों में ४ तीर्थङ्कर विहार के ही थे। राष्ट्रसंत उपाध्याय अमरमुनि महाराज ने अपने महान् ग्रन्थ 'चिन्तन की मनोभूमि' में जिन २४ तीर्थङ्करों का परिचय दिया है, उससे पता चलता है कि जैन धर्म के उन्नीसवें, वीसवें, इकीसवें और चौवोसवें तीर्थङ्करों—श्री मल्लिनाथ, मुनि सुव्रतनाथ, श्री नमिनाथ और महावीर वर्द्धमान के जन्मस्थान क्रमशः मिथिला, राजगृह, मिथिला और वैशाली नगर थे। इनमें उन्नीसवें तीर्थङ्कर भगवान् मल्लिनाथ स्त्री-तीर्थङ्कर थे। उपाध्याय अमरमुनि महाराज के शब्दों में— "स्त्री-शरीर होते हुए भी इन्होंने वहुत व्यापक भ्रमण कर धर्म-प्रचार किया। चालीस हजार मुनि और पचपन हजार साध्वियाँ इनके शिष्य हुए तथा उनके एक लाख उन्यासी हजार श्रावक और तीन लाख सत्तर हजार श्राविकाएँ थीं।"

जैन धर्म को विहार की सवसे वड़ी देन महावीर हैं। इनका जन्म वैशाली में क्षत्रिय कुण्ड (सम्प्रति वासुकुण्ड) ईसा पूर्व ५९९ में चैत्र शुक्ल १३ को हुआ था। इन्होंने ही जैनधर्म का जोरदार संगठन किया तथा सत्य, सेवा, अहिंसा, प्रेम, दया आदि का प्रचार किया। तीस वर्ष की अवस्था में इन्होंने गृहत्याग किया और अपने तप से ज्ञान प्राप्त किया। शेष जीवन इन्होंने प्राणिमात्र के कल्याण में अर्पित किया। ये उत्कृष्ट त्यागी पुरुष थे। जिस समय भगवान् महावीर इस धराधाम पर अवतीर्ण हुए, उस समय सारा भारत वैदिक कर्मकाण्डों एवं हिंसामय यज्ञों से पूर्ण था। भगवान् महावीर ने इन हिंसामय यज्ञों का निषेध किया और प्रेम तथा दया का संचार कर संत्रस्त मानवता को शान्ति प्रदान की। भगवान् महावीर ने ही अनेकान्तवाद और स्याद्वाद का सिद्धान्त चलाया तथा सत्य को समझने के लिए वैज्ञानिक मार्ग वतलाया। उन्होंने समझाया कि किसी वस्तु को एक ही दृष्टि से देखना उचित नहीं, अपितु प्रत्येक वस्तु को अनेक दृष्टिकोणों से देखना चाहिए, क्योंकि प्रत्येक वस्तु अनेकात्मक स्वभाव से युक्त है। स्याद्वाद द्वारा वस्तु के अनेकात्मक स्वभाव का परिचय पाना महावीर वर्द्धमान की सवसे वड़ी देन है। भगवान् महावीर के अनेकान्तवादी दृष्टिकोण पर प्रकाश डालते हुए अमरमुनि महाराज ने लिखा है—"अनेकान्तवाद

जैन धर्म की आधारशिला है। भगवान् महावीर के समय में क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद आदि अनेक धाराएँ प्रवाहित हो रही थीं। समाज के लिए कोई निश्चित पथ नहीं था। कोई ऐसा केन्द्र नहीं था, जहाँ सभी धर्मगत या सम्प्रदायगत विरोध दूर करके एक-दूसरे से मिलते और समाज को गुमराह होने से बचाते। सबके सब अपने आप में मग्न थे। ऐसी हालत में भगवान् महावीर का ध्यान भारतीय संस्कृति की जड़ में लगे हुए भेदरूपी कीटाणु की ओर गया और उन्होंने उसे दूर कर समाज और संस्कृति को सुदृढ़ बनाने का सफल प्रयास किया। महावीर ने भेद के मौलिक कारण को अच्छी तरह समझा, उसका स्पष्टीकरण किया, साथ ही उससे बचने की राह भी बतायी।"

यह विहार का सौभाग्य ही समझिए कि छठी शताब्दी ई० पू० में श्रमण-संस्कृति के दोनों उन्नायक भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध एक ही समय में अवतरित हुए और दोनों को ही साधनाभूमि तथा कर्मभूमि विहार की वैशाली और मगध की भूमि रही। भगवान् के पश्चात् जैन धर्म फिर जोरों से चल पड़ा। आगे चलकर इस धर्म को एक सम्राट् का भी संरक्षण प्राप्त हुआ। मौर्यवंश के संस्थापक सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य अपने अन्तिम काल में जैनधर्म में दीक्षित हो गए और इसका प्रचार-प्रसार जोरों से होने लगा। उस समय पाटलिपुत्र मगध की राजधानी थी। वैशाली और मगध जैनधर्म के मुख्य केन्द्र थे, जहाँ से अहिंसा, दया और स्नेह की किरणें सारे भारत में विकीर्ण होने लगीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस समय बौद्ध धर्म अपने अभ्युदय के शैशव काल में था, उस समय जैनधर्म चारों तरफ फैल चुका था। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि जैन धर्म में अधिक गतिशीलता उस समय आई, जब भगवान् महावीर का पदार्पण हुआ। दो समानान्तर रेखाओं की तरह श्रमण-संस्कृति की ये दो धाराएँ—जैन और बौद्ध ई० पू० छठी शताब्दी में विहार की पवित्र भूमि से निकलकर सम्पूर्ण भारत में फैलने लगीं और अहिंसा, प्रेम तथा सेवा की त्रिवेणी द्वारा सारे भारत में प्रवाहित होने लगीं। यह युग श्रमण-संस्कृति के उद्भव और विकास का युग था और इसके उद्भव तथा विकास का सारा श्रेय विहार को ही है। हजारों की संख्या में जैन श्रमण और बौद्ध भिक्षु सत्य, सेवा तथा अहिंसा के

प्रचार-प्रसार के लिए भारत के कोने-कोने में घूमने लगे। प्राणिमात्र के प्रति दयाभाव श्रमण-संस्कृति की आधारशिला है और उस समय सारा भारत इस दयाभाव के पूत मन्त्र से गूँज रहा था।

उस समय वैशाली जैन-धर्म की प्रमुख स्थली थी। भगवान् महावीर के अनुयायी देश के विभिन्न भागों से वैशाली में आते, जहाँ लिच्छवियों के साथ जीवन के विभिन्न अंगों और उसकी समस्याओं पर विचार-विमर्श किया करते। भगवान् महावीर के देह-त्याग के पश्चात् (ई० पू० ५२७) वैशाली जैनधर्म का मुख्य प्रेरणा-स्रोत बनी, जहाँ नर और नारी एकसाथ मिलकर भगवान् महावीर के उपदेशों पर विचार-विमर्श करते, चिन्तन-मनन करते। अपनी पुस्तक 'History of Tirhut' में श्री श्यामनारायणसिंह ने वैशाली के विषय में लिखते हुए बतलाया है कि यह स्थान जैन-विचारधारा का मुख्य गढ़ था—"The Followers of Mahavira from different parts of the country visited Vaishali, where the Licchavis used regularly to carry on discourses and disputations on high problem of life. The Jains are said to have been Valient disputants. Both men and women took part in the discourses, at the end of which some of them were united in wedlock on account of their agreement of views or as the outcome of mutual regard for their attainments."

बौद्धधारा :

श्रमण-संस्कृति की दूसरी मुख्य धारा बौद्धधर्म है। वतमान कपिल-वस्तु, जहाँ भगवान् बुद्ध ने ई० पू० छठी शताब्दी में जन्म धारण किया था, उस समय विहार का ही अंग था। कपिलवस्तु छोड़कर महाभिनिष्क्रमण के लिए निकले गौतम को मगध के जंगलों ने आकृष्ट किया और वहाँ उन्होंने लगातार छह वर्षों तक कठिन तप किया। अन्त में गया से छह मील दक्षिण एक पीपल वृक्ष के नीचे उन्हें बोधि प्राप्त हुई। वह स्थान आजकल बोधगया के नाम से विख्यात है। बोधि-प्राप्ति के पश्चात् गौतम महात्मा बुद्ध, तथागत, सुगत, आगत, अमिताभ आदि कई नामों से विख्यात हुए। अब

तथागत गाँव-गाँव, नगर-नगर घूम-घूम कर सत्य, सेवा, स्नेह, अहिंसा, दया, करुणा, क्षमा तथा सहिष्णुता का संदेश देने लगे। वे अपने शिष्यों और अनुयायियों को सम्बोधित करते हुए कहते—"हे भिक्षुओ ! चलते चलो, बढ़ते चलो, जहाँ कहीं अधर्म है, लाचारी है, विवशता है, वहाँ जाओ, दीन-दुःखियों की सेवा करो; बहुतों के सुख के लिए, बहुतों के हित के लिए, अर्पित हो जाओ।"

जिस प्रकार जैन धर्म का मुख्य केन्द्र वैशाली थी, उसी प्रकार बौद्ध धर्म का मुख्य केन्द्र मगध था। सम्राट् बिम्बिसार ने शीघ्र ही बौद्ध-धर्म को ग्रहण कर लिया[1] और गिरिव्रज (राजगृह) में 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' की अनुगूँज से सारा आकाश निनादित होने लगा। बिम्बिसार के पुत्र और उत्तराधिकारी सम्राट् अजातशत्रु ने भी इस धर्म को अपनाया। बिम्बिसार का विवाह वैशाली के नृप चेतक की पुत्री चेलना से हुआ था। इस प्रकार मगध और वैशाली सम्बन्धसूत्र में बँध गए। भगवान् बुद्ध की ख्याति सुनकर लिच्छवियों ने उन्हें वैशाली आने का निमन्त्रण दिया और वैशाली में भगवान् बुद्ध कई बार पधारे। यहाँ तक कि अपने महापरिनिर्वाण के पूर्व कुशीनगर जाते हुए तथागत अन्तिम बार वैशाली से ही होकर गुजरे। वैशाली के निवासियों ने भगवान् बुद्ध का स्वागत-सत्कार पूरी श्रद्धा-भक्ति के साथ किया। अब वैशाली भी बौद्ध-धर्म का मुख्य केन्द्र बन गयी। वैशाली की यह विशेषता आगे भी बनी रही और जब बौद्धों की दूसरी परिषद् की बैठक का आयोजन किया गया तो ई० पू० ३७७ में वैशाली को ही इसके लिए उपयुक्त स्थान चुना गया। राजगृह और वैशाली का महत्त्व इससे और बढ़ जाता है कि बौद्ध-धर्म के विकास में इन दोनों स्थानों का विशेष हाथ रहा है। इन्हीं दोनों स्थानों पर बौद्धों की महापरिषदें बैठी थीं और इन बैठकों में अनेक महत्त्वपूर्ण निर्णय लिए गए थे। इस प्रकार मगध और वैशाली श्रमण-संस्कृति के उद्भव और विकास के दो ऐसे पवित्र स्थल हैं, जहाँ से बौद्ध एवं जैन विचार-धारा का पवित्र एवं

---

१. भगवान् महावीर के उपदेश से सम्राट् श्रेणिक बाद में जैनधर्मावलम्बी हो गए थे—सं०

वेगवान् स्रोत फूटा। यही कारण है कि आज भी विश्व के कोने-कोने से श्रमण, भिक्षु, सन्त, महात्मा एवं पर्यटक इन दोनों स्थानों की यात्रा कर अपने जीवन को धन्य मानते हैं।

छठी शताव्दी ई० पू० में वैशाली गणराज्य का वड़ा महत्त्व था। यहाँ के लोग वीर, उदार, साहसी, सहिष्णु और धार्मिक थे। वौद्ध एवं जैन धर्मों का इन पर इतना प्रभाव पड़ा था कि वे वड़े ही शांत तथा धार्मिक जीवन जी रहे थे। वैशाली की ही राजनर्त्तकी परम सुन्दरी आम्रपाली ने तथागत से दीक्षा ली थी और यहीं पर तथागत ने संघ में भिक्षुणियों को शामिल करने का अपना ऐतिहासिक निर्णय किया था। 'History of Tirhut' पृष्ठ ४३ में लिखा है—"It may be interesting to mention that it was at vaishali that Budha established the order of nuns at the request of his cousin and disciple Anand and his widowed mother." आज भी श्रमण-संस्कृति के मुख्य आकर्षण-केन्द्र के रूप में वैशाली की ख्याति दूर-दूर के देशों तक में फैली है। यहाँ के खण्डहरों से प्राप्त सिक्के तथा चिह्न जहाँ जैन धर्म और वैशाली गणराज्य की विशेषताओं को वतलाते हैं, वहाँ वैशाली के स्तूप तथा अन्य अवशेष वौद्ध-धर्म के प्राचीन वैभव और उसकी गरिमा को प्रकट कर रहे हैं।

विहार राज्य का तिरहुत प्रमण्डल, विशेषकर चम्पारण जिला वौद्ध धर्म के अनेक अवशेषों को वचाये हुए है। कहा जाता है कि गौतम जव कपिलवस्तु को छोड़कर ज्ञान और मुक्ति की खोज में चले थे, तव अनोमा नदी तक उनका सारथी छन्दक भी आया था। अनोमा नदी पार कर गौतम चम्पारण के नन्दनगढ़ लौरिया, वेतिया, अरेराज लौरिया, गोविन्दगंज-संग्रामपुर, केशरिया होते हुए वैशाली के रास्ते गङ्गा पार कर मगध पहुंचे थे। और फिर ई० पू० ४८७ में महापरिनिर्वाण के लिए कुशीनगर जाते समय वैशाली होते हुए चम्पारण के इन्हीं उपर्युक्त स्थानों से होकर गुजरे थे। वैशाली के निवासी तथागत के साथ चम्पारण जिले के केशरिया तक आये थे, जहाँ भगवान् वुद्ध ने उनसे विदा ली थी। यहीं पर भगवान् वुद्ध ने उन लोगों को अपना भिक्षा-पात्र प्रदान किया—

"Kesaria in champaran district is supposed to be the spot where Budha took leave of the Licchavis and where he presented his alms leowl to them. It is believed that they erected a stupa over the spot where the alms bowl was presented by Budha." 'History of Tirhut' पृष्ठ ४४। चम्पारण के केशरिया में आज भी गढ़ है और अरेराज लौरिया, नन्दनगढ़ लौरिया तथा रमपुरवा (जो आजकल नेपाल में है) में लाठ हैं, जिन पर महात्मा बुद्ध के धर्म-संदेश पालि भाषा में अङ्कित हैं। अरेराज-लौरिया के लाठ का ऊपरी भाग आजकल नहीं है, शायद वह १९३४ के भूकम्प में गिर गया और कहीं चला गया है। चम्पारण की भूमि अति प्राचीनकाल से ही सन्तों और महात्माओं के लिए आकर्षण का केन्द्र रही है। यहाँ चम्पा पुष्प का वन था, जहाँ शान्त वातावरण पाकर तपस्वी अपनी साधना में रत रहते थे। आवश्यकता है अनुसंधित्सुओं की, जो इसके कण-कण में व्याप्त प्राचीन वैभव को अपनी लेखनी से प्रकट कर सकें।

मौर्यकाल में बौद्ध-धर्म को विकसित होने और विश्व के कोने-कोने में फैलने का वड़ा ही सुनहला अवसर मिला। सम्राट् अशोक ने कलिंग-युद्ध के नर-संहार से द्रवीभूत होकर बौद्ध-धर्म ग्रहण कर लिया। उसने बौद्ध-धर्म के प्रचार और प्रसार के लिए अपना शेष जीवन लगा दिया। उन्होंने अपने वेटे महेन्द्र और वेटी सङ्घमित्रा को सिंहलद्वीप भेजकर बौद्ध-धर्म का प्रचार कराया। बिहार की राजधानी पाटलिपुत्र उस समय बौद्ध-धर्म का सबसे वड़ा केन्द्र था। सम्राट् अशोक ने सुदूर चीन और जापान तक इस धर्म का प्रचार कराया। आगे चलकर नालन्दा और विक्रमशिला बौद्ध-धर्म-दर्शन के केन्द्र वने, जहाँ विश्व के अन्य भागों के छात्र इन विश्वविद्यालयों में आकर ज्ञान-लाभ करते। अनेक प्रमुख चीनी यात्रियों—फाह्यान, ह्वेनसंग आदि ने इन स्थानों का भ्रमण कर इनकी विशेषताओं का उल्लेख किया है।

मौर्यकाल और गुप्तकाल में बिहार श्रमण-संस्कृति का मुख्य केन्द्र बना रहा। कहा जाता है कि सम्राट् अशोक ने पटना से

वैशाली होते हुए केशरिया, अरेराज-लौरिया, वेतिया, नन्दनगढ़-लौरिया होकर कुशीनगर तक एक राजमार्ग वनवाया, क्योंकि इसी मार्ग से भगवान् वुद्ध महापरिनिर्वाण के लिए कुशीनगर गए थे। ईसा की पहली शताब्दी में कुशान वंश के सम्राट् कनिष्क ने वैशाली से भगवान् वुद्ध का भिक्षा-पात्र लेकर गंधार में स्थापित किया। वर्द्धन-साम्राज्य में भी बिहार श्रमण-संस्कृति—विशेषकर वौद्ध-धर्म-दर्शन—के क्षेत्र में बड़ा ही सक्रिय योगदान देता रहा। हर्षवर्द्धन का राज्य चारां तरफ फैला था और विहार उस समय भी बौद्ध-धर्म के विकास में लगा रहा। नालंदा और विक्रमशिला वहुत दिनों तक बौद्ध-धर्म के केन्द्र वने रहे। आगे चलकर जब वौद्ध-धर्म हीनयान और महायान में बँट गया और फिर तन्त्रयान, मन्त्रयान और वज्रयान के नाम से अनेक शाखाएँ-प्रशाखाएँ फूटीं, उन दिनों भी बिहार बौद्ध-धर्म का गढ़ रहा। सिद्धों के युग में पहुँचने पर पता चलता है कि ८४ सिद्धों में अधिकांश बिहार के ही विक्रम-शिला, नालन्दा, मगध, वैशाली और मिथिला के थे। सरहपा, शवरपा, भूसुकपा, कर्णरीपा, लूईपा, विरूपा, डोम्बिपा, महीपा, तिलोपा, शांतिपा आदि बिहार के ही थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रमण-संस्कृति के उदभव और विकास में प्रारम्भ से ही बिहार आगे रहा है। इतिहासकारों और विद्वानों ने एक स्वर से इस वात को दुहराया है कि विहार की भूमि क्रान्ति की भूमि रही है, और धर्म तथा दर्शन के क्षेत्र में यह सबसे आगे रही है। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका' पृष्ठ २६ में लिखा है—"यह भी ध्यान में रखने की वात है कि पूर्वी प्रदेश में भारतीय इतिहास के आदिकाल से रूढ़ियों और परम्पराओं के विरुद्ध विद्रोह करने वाले सन्त होते रहे हैं। वैदिक कर्मकाण्ड के मृदु विरोधी जनक और याज्ञवल्क्य तथा उग्र विरोधी वुद्ध और महावीर आदि आचार्य इन्हीं पूर्वी प्रदेशों में उत्पन्न हुए थे।" वास्तव में विहार की क्रान्ति-भूमि पर श्रमण-संस्कृति के दो विशाल वट-वृक्ष उगे—वैशाली में जैनधर्म का वटवृक्ष और मगध में वौद्ध-धर्म का वट-वृक्ष, जिनकी शाखाएँ-प्रशाखाएं सारे संसार में फैलीं और आज भी अपनी सुरभि से सम्पूर्ण विश्व को सुरभित कर रही हैं।

अतः यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि श्रमण-संस्कृति के उद्भव और विकास में बिहार का योगदान सबसे अधिक रहा है। भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध का बिहार की पवित्र भूमि पर अवतरण मानवता के लिए वरदान सिद्ध हुआ। इन महात्माओं के हृदय में मानव-मात्र के लिए अपार स्नेह और असीम करुणा का सागर लहरा रहा था। इन दोनों के हृदय-सागर से धार्मिक सुधार की जो लहरें निकलीं, वे मध्ययुगीन सन्तों से होती हुई गाँधी और विनोवा तक पहुँची हैं, और आज भी श्रमण-संस्कृति के महान् साधक, तपस्वी, श्रमण और स्थविर उनके दिव्य एवं अमृतोपमसंदेश को सारे संसार के कल्याणार्थ घूम-घूमकर प्रसारित और प्रचारित कर रहे हैं। भौतिकता के आवर्त्त में पड़े विश्व के निकलने का एक ही मार्ग है और वह है श्रमण-संस्कृति का प्रेम और करुणा का मार्ग, सत्य और सेवा का मार्ग; अहिंसा और मानवता का मार्ग, जिसे आज से २५०० वर्ष पूर्व महात्मा बुद्ध एवं महावीर वर्द्धमान ने बतलाया था। आइए, हम सभी संसारवासी जाति, वर्ण, क्षेत्र और सम्प्रदायविशेष के घेरे से वाहर निकल कर मानवता के प्रशस्त पथ पर विचरें। श्रमण-संस्कृति के महान् प्रवर्त्तकों— भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध—के प्रति हमारी सच्ची श्रद्धांजलि यही होगी कि हम सत्य, सेवा, स्नेह, करुणा और अहिंसा के मार्ग पर बढ़ते हुए सम्पूर्ण प्राणियों के कल्याण के लिए अपने जीवन को अर्पित करें। युद्ध-जर्जर संसार का कल्याण बुद्ध और महावीर की करुणा और दया की भावना में ही निहित है। करुणा का सिद्धान्त किसी भी धर्म के इतिहास में अनुपम है और बौद्ध तथा जैन-धर्मों ने विहार की पवित्र भूमि से वर्द्धमान महावीर तथा तथागत बुद्ध के माध्यम से इसी अनुपम सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। विज्ञान की विभीषिका से संत्रस्त मानव जाति के वचने की एक ही राह है और वह है महात्मा बुद्ध तथा महावीर वर्द्धमान का बताया हुआ सत्य और अहिंसा का मार्ग।

विश्व के उत्थान और पतन, सृजन और संहार के इतिहास पर जब हम गहराई से विचार करेंगे, तब यह तथ्य स्वतः स्पष्ट हो जाएगा कि हमारे जीवन की महत्त्वाकांक्षाएँ, विनाशकारी माध्यमों एवं मंतव्यों से फलीभूत हो सकती हैं, अथवा सत्य, प्रेम और दया

की भावना से ! हमने दो-दो महायुद्धों की विनाशकारी लीलाओं का प्रत्यक्ष दर्शन किया है, उसके दुष्परिणामों के बीच मानव एवं समस्त प्राणिजगत् को तड़पते-विनशते देखा है। और यह अनुभव किया है कि किस प्रकार एक व्यक्ति अथवा कुछ व्यक्तियों की दुराकांक्षाएँ स्वयं तो नष्ट-ध्वस्त होती ही हैं, विश्व को भी भयंकर तबाही के कगार पर लाकर खड़ी कर देती हैं। और दूसरी ओर, एक व्यक्ति के अंग में से स्फुरित प्रेम, सहानुभूति एवं सौहार्द की सौम्य भावनाएँ किस प्रकार से एक साधारण से व्यक्ति को विश्ववंद्य तक बना देती हैं।

वस्तुतः प्रेम का राज्य अजर-अमर होता है, उसका विनाश कभी नहीं होता। करुणा का कलेवर कितना कमनीय होता है, यह कोई बुद्ध की वाणी में डुबकी लगाकर देखे। अहिंसा की अमरता कितनी पावन है, यह कोई महावीर के संदेशों में झांके। धन्य हैं वे पूर्वज जिन्होंने ऐसी विश्व-कल्याणकारी विभूति प्रदान की और धन्य है वहाँ की वसुन्धरा जिसके रजकण ने अपने पावन स्पर्श से उस महान् दिव्यता का अक्षय वरदान भर दिया, अपनी सोंधी सुगंध उन पुरुषों के चरित्र में यशःसुरभि की सौम्यता के रूप में भर दी।

—प्रो० रामाश्रय प्रसाद सिंह, एम० ए०

२०

भारतीय भाषा एवं साहित्य में श्रमण संस्कृति के स्वर

साहित्य और दर्शन :

जीवन की अभिव्यक्ति के नाना रूपों का विभिन्न विधाओं में, विभिन्न छवियों में अंकन यदि साहित्य है, तो यह जीवन स्वयं में सम्पूर्ण साहित्य है।

इसी क्रम में, यदि जीवन को दृष्टि-बिम्बों में बाँधना, उसके प्रत्येक रहस-राज का अवलोकन करना, उसके अस्तित्व-अनस्तित्व का मनन करना, और फिर एक दृष्टिकोणविशेष से उसे रूपायित करके किसी सीमारेखा की मुहर लगाना, दर्शन है, तो जीवन स्वयं दर्शन है।

और यदि कुल मिलाकर देखें, तो जीवन एक ही है, जहां से दर्शन की किरणें फूटती हैं, और साहित्य के सुमन सुवासित होते हैं। अतः निश्चय ही साहित्य और दर्शन अपने आप में दो वस्तु नहीं हैं, बल्कि एक सिक्का के दो पहलू हैं। जीवन एक है, साहित्य उसे एक रूप में देखता है, दर्शन उसे दूसरे रूप में देखता है। और जब ये दोनों एक-दूसरे को देखने लग जाते हैं, तब वही स्थिति हो जाती है, जैसे सामने के शीशे में देखने के समय देखने वाला व्यक्ति एक ही होता है, किन्तु बिम्ब-प्रतिबिम्ब मिलकर दो रूप हो जाते हैं। जीवन एक ही है, शीशे में चाहे दर्शन का प्रतिबिम्ब दिखे देखने वाले को अथवा साहित्य की आत्मा झलके। यहीं पर आकर साहित्य दर्शन में समाहित हो जाता है, और दर्शन साहित्य में।

साहित्यकार जो कुछ देखता है, मनन करता है, अपने अन्दर में अनुभूति पाता है, उसी आत्मिक अनुभूति की शिवमयी अभि-

व्यक्ति ही तो साहित्य है। दर्शन जब लहरों पर लहराने लगता है, उसे साहित्य कह लीजिए और जब साहित्य अंतर्सिन्धु में गहन गोते लगाकर, उसकी गहराई, किंवा अस्तित्व का अंकन करने लग जाता है, वहीं यह दर्शन बन जाता है।

साहित्य के माध्यम से जीवन का धर्म, अध्यात्म अथवा कठोर यथार्थ—सभी कुछ सदा से अभिव्यक्ति पाता रहा है। साहित्य ही किसी भी धर्म, अध्यात्म, दर्शन किंवा सम्पूर्णतः सभ्यता एवं संस्कृति की प्राण-प्रतिष्ठा करता आया है, अपनी सत्यता की कैंची से कुशल माली की तरह काट-छाँट कर साज-सँवार करता आया है, सबसे प्रिय साथी, अपने मित्र की तरह अंतः-बाह्य साज-शृंगार कर सौम्य-सुषुमित करता आया है, और ममतामयी जननी की भाँति अपनी संतान की उन्नति-अभिवृद्धि हेतु कल्याण-कामना को आंचल की छोर में बाँधे, हौले-हौले जीवन के पालने पर श्रद्धा और स्नेह की डोर खींच झुलाता आया है। दूसरे शब्दों में कहें, तो साहित्य ही वह महान् शक्ति है जिसके बल पर कोई भी राष्ट्र जीवित है, कोई भी धर्म जीवित है तथा किसी भी देश की सभ्यता और संस्कृति जीवित है। हम जो रोते हैं, हमारा वही क्रन्दन साहित्य बन जाता है; हम जो गाते हैं, हमारा वही संगीत साहित्य बन जाता है; हम जो आत्मा की सत्ता और परमात्मा तक बनने की जीव में क्षमता का जो अहसास करते हैं, हमारा वही अंतर्दर्शन अमर साहित्य बन जाता है। खैर, यहाँ साहित्य का दर्शन और दर्शन के साहित्य का विवेचन हम नहीं करने जा रहे, बल्कि यहाँ साहित्य में संस्कृति की आत्मा, उसके स्वर एवं संदेशों का विहंगावलोकन मात्र करने जा रहे हैं, अतः इतना जान लेना आवश्यक था कि कोई भी संस्कृति साहित्य के बिना जीवित नहीं रह सकती, और न वैसा कोई भी साहित्य है, जो संस्कृति की कल्याणी वाणी से विरत होकर अमरता प्राप्त कर सके।

भाषा एवं मातृभाषा :

हम जो बोलते हैं, अथवा प्राणिमात्र की जो आवाजें हैं, वही भाषा है। मनुष्यों की भाषा के समान ही, पशुओं की भाषा, पक्षियों की भाषा आदि प्रत्येक प्राणि की अपनी-अपनी भाषाएँ हैं।

प्रश्न यह है कि भाषा और मातृभाषा में फिर किस प्रकार की सीमारेखा है ? मेरा अपना दृष्टिकोण है कि भाषाएँ तो प्रत्येक की होती ही हैं, किन्तु बालक अपने शैशवकाल में अपनी माता की गोद से लेकर धरती पर ठुमुक-ठुमुक पाँव धरते समय तक जिस भाषा का प्रथम आधान करता है, वही उसकी मातृभाषा है। यही का ण है कि हर देश की भिन्न-भिन्न प्रकार की भाषाएँ हैं और एक देश में पुनः भिन्न-भिन्न प्रदेशों की भिन्न-भिन्न मातृभाषाएँ हैं। जैसे भारत में प्रमुख भाषा हिन्दी, इंगलैंड में अंग्रेजी, रूस में रूसी, जापान में जापानी, जर्मन में जर्मनी आदि-आदि। उसी प्रकार भारत में—बंगला, उड़िया, असमिया, गुजराती, मराठी, मगही, भोजपुरी, मैथिली, वज्जी, तमिल, तेलुगु, मलयालम, कन्नड़ आदि भिन्न-भिन्न प्रदेशों की भिन्न-भिन्न मातृभाषाएँ हैं।

हम जानते हैं कि किसी भी देश को सामाजिक, राजनीतिक आदि प्रत्येक पहलुओं से एक सूत्र में बाँधने के लिए तथा काम-काज की सुविधा के लिए पूरे देश के लिए एक भाषा की आवश्यकता होती है, जिससे कि एक प्रदेश का व्यक्ति दूसरे प्रदेश में जाकर उस राष्ट्र-भाषा अथवा सम्पर्क भाषा के माध्यम से अपना विचार-विनिमय कर पाते हैं। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि तब फिर यह प्रादेशिक भाषा क्यों ? उसका विकास क्यों ? उसकी उपादेयता क्या है ? स्पष्ट है, जब दुःख के दिन आते हैं, कष्ट और पीड़ा सहनशीलता की सीमा तोड़ने लगती है, पीड़ित को माँ की गोद की बहुत याद आती है। और, जब माँ सामने आ जाती है, तो माँ की ममतामयी वाणी उसके लिए संजीवनो वन जाती है, हालाँकि उस समय मातृरूपा बहुत-सी औरतें उसके पास हो सकती हैं, होती भी हैं, माँ से भी अधिक ममता देने वाले वहाँ बहुत से व्यक्ति हो सकते हैं, होते भी हैं, फिर माँ में वह कौन-सी शक्ति है, जो उसे कठिन पीड़ा के बीच भी स्नेह-सुख की छाँव देतो है ? ऐसा क्यों होता है ? ऐसा इसलिए होता है, कि व्यक्ति अपनी माँ में जितनी आत्मीयता पाता है, जितना ममत्व का सागर देखता है, उतना अन्य किसी में नहीं। और यही कारण है कि दूरवासी एकभाषायी व्यक्तियों के बीच परस्पर में बड़ा सौम्य सम्बन्ध होता है। होता अन्य भाषा-भाषियों के साथ भी है, किन्तु वह विशेषतः औपचारिकता लिए हुए होता है, जो एकभाषा-भाषी

में उतने परिमाण में देखने को नहीं आता। कहने का तात्पर्य यह है कि मातृभाषा के माध्यम से किए गए विचार-विनिमय में सीधे हृदय का रागात्मक सम्बन्ध कार्य करता है, उसमें मस्तिष्क का, भाषायी तौर पर किसी भी प्रकार का उलझाव नहीं होता। इसी कारण मातृभाषा में अभिव्यक्त विचारों का ज्यादा मात्रा में अंकन होता है समाज में, तथा इसका परिणाम भी ज्यादा व्यापक, विशद एवं स्थायी होता हैं।

श्रमण लंस्कृति के उन्नायकों में यही बात सामान्यतया देखी जाती है कि उन्होंने प्राय: अपने संदेश मातृभाषा में ही दिए हैं। उनका प्रत्येक उद्घोष आत्मा से निकला हुआ, आत्मा के विकास के लिए हृदय की भाषा—मातृभाषा में हुआ, और यही कारण है कि लोगों ने आत्मा के आलोक में हृदय के सहज-सुगम पथ से, उन संदेशों एवं उद्घोषों को व्यापक रूप में अपनाया।

आरंभकालीन श्रमण संस्कृति के स्वर प्रधानत: प्राकृत (अर्ध मागधी) भाषा में नि:सृत हैं, चूँकि श्रमण साहित्य की सर्जना विशेषत: उस समय में हुई, जवकि सामान्य जनों की भाषा प्राकृत (अर्ध मागधी) थी। संस्कृत भाषा साहित्यिक भाषा के पद पर आरूढ़ हो चुकी थी। उसका जन सामान्य से सम्बन्ध विरलप्राय हो चुका था। प्रकांड पंडितों एवं विद्वानों की ही एक प्रकार से यह सत्ता-भाषा वन चुकी थी। संस्कृत के ज्ञाता, देशभाषा वोलने वाले को असभ्य समझते थे, और देश भाषा-भाषी भी संस्कृत बोलने वाले को अपने समाज से अलग का तत्त्व समझते थे। ऐसी परिस्थिति में श्रमण-संस्कृति के उन्नायकों ने सोचा—जन सामान्य को एक ऐसे उपदेष्टा की अपेक्षा है जो उसकी भाषा में, उसके कल्याण की वात कह सके। उसकी टूटी झोंपड़ी में मिट्टी का दिया जलाकर उजाला कर सके। अत: उनकी वाणी में कही गई बात का उन पर ज्यादा प्रभावकारी असर होगा। अत: उस समय में व्यवहृत जन-सामान्य की प्रमुख दो भाषाओं—प्राकृत और पालि में श्रमण संस्कृति की दो धाराओं–जैन संस्कृति एवं वौद्ध संस्कृति के उन्नायकों ने अपने संदेश देने आरम्भ किए। कहना न होगा, जन-सामान्य की भाषा में दिए गए उन संदेशों का कितना गहरा प्रभाव जन-मानस पर पड़ा

कि वह आज भी भारतीय संस्कृति के स्नायुमंडल को झंकृत-निनादित कर रहा है।

प्राकृत भाषा के अतिरिक्त भारत की विभिन्न भाषाओं में श्रमण संस्कृति पर विपुल परिमाण में साहित्य सर्जना हुई, जिस पर विहंगावलोकन करना यहाँ अभीष्ट है।

प्राकृत और जैन संस्कृति :

भारतीय आर्यभाषाओं के मध्यकालीन रूप को, जिसका समय लगभग ६०० ई० पू० से १००० ई० तक माना जाता है, प्राकृत का सामान्य नाम दिया जाता है, और इससे वे बीसियों भाषाएँ लक्षित हैं जिनके दक्षिण भारत में काँची से लेकर चीनी तुर्किस्तान में निया प्रदेश तक फैले हुए अवशेष आज भी प्राप्त हैं और जिनके प्रतिरूप और उल्लेख उस काल के धार्मिक और लौकिक साहित्य में मिलते हैं।[१] ....प्राकृत की प्रतिष्ठित व्याख्या में पालि को इस वर्ग से अलग माना गया है, किन्तु कुछ लोग इसी से प्राकृत काल का आरम्भ मानते हैं। कभी अशुद्ध संस्कृत के कई भेद जिसमें से कुछ का व्यवहार बौद्धों की महायान शाखा द्वारा उनकी 'मिश्रित संस्कृत' में किया गया है, इस वर्ग में सम्मिलित किए गए हैं और कभी अशोक के समय के शिलालेखों को तथा चीनी तुर्किस्तान में खोजी हुई निया प्राकृत इनसे अलग मानी जाती हैं। यद्यपि प्राकृत के कई भेद वास्तव में मिश्रित भाषाएँ मानी जाती हैं, जो संस्कृत से कुछ ही कम बनावटी थीं,[२] और जो अनेक उपजाति समूहों के विस्तृत भूखंडों में फैली हुई थीं, तथापि ये उस काल की बोलचाल की भाषा के रूप में सामने रखी जाती हैं और आधुनिक भारतीय भाषाओं की पुरोगामी सिद्ध की जाती हैं। इस काल की भाषाएँ तीन वर्गों में विभाजित की जा सकती हैं—१. पूर्व काल की प्राकृत (पालि और प्राचीन मागधी—६०० ई० पू० से १०० ई०), २ मध्यकाल की प्राकृत (शौरसेनी, मागधी—और उनके भेद १०० ई० से

---

१. हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं का वैज्ञानिक इतिहास, पृष्ठ ४३

२. प्रभातचन्द्र चक्रवर्ती : लिंग्विस्टिक स्पैकुलेशन आव हिन्दूज, कलकत्ता वि० १६५५

६०० ई०) और ३. उत्तरकाल की प्राकृत (अपभ्रंश ६०० ई० से ११०० ई०)। इसके अतिरिक्त श्री एस०एम० कतरे ने प्राकृत भाषाओं का एक अन्य वर्गीकरण प्रस्तुत किया है—(क) धार्मिक प्राकृत—इसके अन्तर्गत पालि, दक्षिणी धर्मशास्त्रों और उनके बाद की कृतियों की भाषा। अर्ध मागधी, जैन सूत्रोंकी प्राचीनतम भाषा तथा आरसा महाराष्ट्री, शौरसेनी और अपभ्रंश जिसमें जैन साहित्य का वर्णनात्मक साहित्य प्रचुर मात्रा में है।

(ख) साहित्यिक प्राकृत—इसके अन्तर्गत महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पैशाची और अपभ्रंश तथा उनकी उपशाखाएँ परिगणित हैं।

(ग) नाटकीय प्राकृत—इसके अन्तर्गत महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और इनकी शाखाएँ, प्राचीन अर्धमागधी जो अश्वघोष के नाटकों में मिलती है तथा अल्पबोलियाँ, जैसे ढक्की और तक्की आदि हैं।

(घ) वैयाकरणों द्वारा वर्णित प्राकृत—इनके अन्तर्गत ५ या छः बोलियाँ हैं जो संस्कृत नाटकों में और मध्य भारतीय-आर्य कथा-साहित्य में मिलती हैं, जैसे महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पैशाची और अपनी कई बोलियों के साथ अपभ्रंश। इस वर्ग में वे प्राकृत भी आती हैं जो काव्य या संगीत के लिए प्रयुक्त हुई हैं, जैसे भरत का नाट्यशास्त्र या गीतालंकार या नमिसाधु की रुद्रट के काव्यालंकार की टीका आदि।

(च) भारतेतर प्राकृत—इसके अन्तर्गत धम्मपद प्राकृत की भाषा, जो खोतान में प्राप्त हुई और जो खरोष्ट्री लिपि में है, चीनी तुर्किस्तान में प्राप्त लेखों की निया और खोतानी प्राकृत है।

(छ) शिलालेखों की प्राकृत—यह अशोककाल और उसके बाद ब्राह्मी और खरोष्ट्री लिपि में लिखी जाती थीं तथा समस्त भारत और लंका में पाई जाती हैं। इसके अन्तर्गत ताम्रपत्र और मुद्राएँ भी आती हैं। और,

(ज) जनप्रिय संस्कृत—हिन्दू, जैन और बौद्ध। इनमें कुछ ऐसे व्यवहार मिलते हैं जो शुद्ध और प्रतिष्ठित संस्कृत में अग्राह्य और अनुचित समझे जाते थे।[3]

---

३. प्राकृत लैंग्वेज एण्ड देयर कण्ट्रीब्यूशन टु इंडियन कल्चर

यहाँ हमारा उद्देश्य प्राकृत भाषा का इतिहास न देकर इसकी एक झीनी झाँकी भर प्रस्तुत करना था, और जिससे यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि प्राकृत साहित्य अपने विकास के सुदीर्घ काल में पर्याप्त विशाल एवं सुदृढ़ साहित्य के रूप में गौरवान्वित था, जिसके अन्तर्गत संगीत, कथा, आख्यायिका, नाटक, सूत्र आदि विधाओं में सर्जित साहित्य आज भी गौरव की वस्तु है।

वस्तुतः जैन संस्कृति का मूल साहित्य प्राकृत भाषा में ही है। जैन संस्कृति का विशाल आगम साहित्य, जो भारतीय संस्कृति की अनमोल उपलब्धि है, (अर्धं मागधी)[४] प्राकृत भाषा में ही निबद्ध है। समवायांग[५] और औपपातिक[६] सूत्र के मतानुसार सभी तीर्थंकर अर्धमागधी भाषा में ही उपदेश देते हैं, क्योंकि चारित्र धर्म की आराधना एवं साधना करने वाले मन्द बुद्धि स्त्री-पुरुषों पर अनुग्रह करके सर्वज्ञ भगवान् सिद्धान्त को प्ररूपणा प्राकृत भाषा में करते हैं।[७] प्राकृत को अर्ध मागधी कहे जाने के दो कारण बताये जाते हैं—प्रथम यह कि यह भाषा मगध के एक भाग में बोली जाती थी, तथा दूसरी यह कि इसमें अठारह देशी भाषाओं का सम्मिश्रण हुआ है। अर्थात् मागधी और देश्य भाषाओं के सम्मिश्रण के कारण इसे अर्धमागधी कहा जाता है।[८]

---

४. पोराणमद्धमागह भाषानिययं हवइ सुत्तं। —निशीथचूर्णि

५. भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खई।

—समवायांग सूत्र पृ० ६०

६. तएणं समणे भगवं महावीरे कूणिअस्स रण्णो भिंभिसार
—पुत्तस्स ···अद्धमागहीए भासाए भासइ····सा वि यणं
अद्धमागही भासा तेसिं सव्वेसिं अप्पणो परिमाणेणं परिणमइ।

—औपपातिक सूत्र

७. बाल-स्त्री-मन्दमूर्खाणां नृणां चारित्र कांक्षिणाम्।
अनुग्रहार्थं सर्वज्ञैः सिद्धान्तः प्राकृते कृतः।

—दशवैकालिक हारिभद्रीय वृत्ति

८. मगद्धविसय भासाणिबद्धं अद्धमागहं,
अट्ठारसदेसीभासाणिमयं वा अद्धमागहं। —निशीथचूर्णि

आगम शब्द मूलतः शास्त्र के अभिधार्थ में प्रयुक्त हुआ है। आगम शब्द का अर्थ है—जिससे पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो।[९] जिससे पदार्थों का परिपूर्णता के साथ मर्यादित ज्ञान हो, वह आगम है।[१०] आप्त पुरुषों का कथन अर्थात् आप्तकथन आगम है।[११] आप्त पुरुष उन्हें कहा जाता है जिन्होंने राग-द्वेष को जीत लिया है, वह जिन तीर्थंकर सर्वज्ञ भगवान् आप्त हैं, और उनका उपदेश एवं वाणी ही जैनागम है।[१२]

सम्पूर्ण आगम साहित्य को अंगप्रविष्ट एवं अंगबाह्य दो खण्डों में विभक्त किया गया है। अंग साहित्य की संख्या के सम्बन्ध में श्वेताम्बर और दिगम्बर सभी एकमत हैं। सभी अंगों की संख्या १२ स्वीकारते हैं। परन्तु अंग बाह्य आगमों की संख्या के सम्बन्ध में यह बात नहीं है, उसमें मत वैभिन्न्य है। यही कारण है कि आगमों की संख्या कितने हो ८४ मानते हैं, कोई-कोई ४५ मानते हैं और कितने ही ३२ मानते हैं। नन्दीसूत्र में आगमों की जो विस्तृत सूची दी गई है, वे सभी आगम सम्प्रति उपलब्ध नहीं हैं। द्वादश अंग जो सर्वमान्य हैं, ये हैं—१. आचार, २. सूत्रकृत, ३. स्थान, ४. समवाय, ५. भगवती, ६. ज्ञाताधर्मकथा ७. उपासक दशा, ८. अन्तकृद्, ९. अनुत्तरोपपातिक, १०. प्रश्न व्याकरण, ११. विपाक और १२. दृष्टिवाद।

---

९. आगम्यन्ते मर्यादयाऽववुद्धयन्तेऽर्थाः अनेनेत्यागमः।

—रत्नाकरावतारिका वृत्ति

१०. आ—अभिविविना सकल श्रुत विपयव्याप्ति रूपेण,
मर्यादया वा यथावस्थितप्ररूपणा रूपया गम्यंते—
परिच्छिद्यन्ते अर्थाः येन स आगमः।

—आवश्यक मलयगिरि वृत्ति
—नन्दीसूत्र वृत्ति

११. आप्तोपदेशः शब्दः। —न्यायसूत्र १।१।७

१२. जं णं इमं अरिहंतेहिं भगवंतेहिं उप्पण्णणाण-दंसण-धरेहिं
तीय-पच्चुप्पण्णमणागय—जाणएहिं तिलुक्क वहित महितपूइएहिं
सव्वण्णूहिं सव्वदरिसीहिं—पणीयं दुवालसंगं गणिपिडगं,
तं जहा—आयारो जाव दिट्ठवाओ। —अनुयोगद्वार सूत्र ४२

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, ये आगम जीवन और जगत् के विविध-दिश दिव्यज्ञान के अक्षय भंडार हैं। उनमें एक से एक अपूर्व मणि-मुक्ताएँ छिपी पड़ी हैं। उसमें केवल अध्यात्म और वैराग्य के ही उपदेश नहीं हैं, बल्कि धर्म, दर्शन, नीति, सभ्यता, संस्कृति, कर्म, लेश्या, जीव, जगत्, आत्मा, भूगोल, खगोल, इतिहास, गणित, संगीत, नाटक, आयुर्वेद आदि जीवन के प्रत्येक पहलुओं को स्पर्श वाले विचार-तत्त्व व्यंजित हैं।

गणधरों द्वारा प्रणीत द्वादशांगों के उपरान्त स्थविरों ने उनका पर्याप्त पल्लवन किया। हजारों प्रकरण ग्रन्थ निर्मित हुए। पुनः उसके पश्चात् आगमों के व्याख्या-ग्रन्थ लिखे जाने लगे। वे निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णी के रूप में प्राकृत को व्यापक साहित्य-राशि हैं। इनमें निर्युक्ति और भाष्य पद्यवद्ध हैं जबकि चूर्णियाँ गद्यनिबद्ध। निर्युक्तिकार द्वितीय भद्रबाहु (विक्रम पाँचवीं-छठी शताब्दी) की ११ निर्युक्तियाँ तथा चूर्णीकारों की १७ चूर्णियाँ अद्यावधि उपलब्ध हैं। चूर्णीकारों में मुख्यतः जिनदास गणी महत्तर (सातवीं शती), सिद्धसेन सूरि (१२ वीं शती), प्रलम्ब सूरि एवं अगस्त्यसिंह मुनि उल्लेखनीय हैं। शेष अज्ञात हैं।

ग्रन्थ निर्माण की इस प्रक्रिया में श्वेताम्बर आचार्यों की भाँति दिगम्बर आचार्यों ने भी प्राकृत साहित्य का प्रचुर पल्लवन किया है। उनका आद्यग्रन्थ षट्खंडागम है जिसका प्रणयन दूसरी-तीसरी शताब्दी में आचार्य पुष्पदंत भूतवलि द्वारा हुआ है। इसी प्रकार का दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रंथ कषाय-प्राभृत है, जिसकी रचना आचार्य गुणधर ने की थी। आचार्य वीरसेन (वि० नवम शताब्दी) ने षट्खंडागम पर ७२,००० श्लोक-प्रमाण धवला टीका लिखी। उन्होंने कषाय-प्राभृत पर भी टीका संरचना आरम्भ की थी, किन्तु २०,००० श्लोक प्रमाण लिखने के अनंतर अपूर्ण ग्रन्थ को ही छोड़कर दिवंगत हो गये, जिसे उनके शिष्य जिनसेनाचार्य ने पूर्ण किया। यह साठ हजार श्लोक प्रमाण का ग्रन्थ जयधवला के नाम से विख्यात है। विक्रम दूसरी शती में आचार्य कुंदकुंद ने प्रवचनसार, समयसार और पंचास्तिकाय आदि ग्रन्थों का प्रणयन कर अध्यात्म के क्षेत्र में एक नया मोड़ ला दिया। आचार्य नेमिचन्द्र (वि० दशवीं शती) ने

भी गोम्मटसार एवं लब्धिसार नाम के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का सर्जन किया।

उपरिवर्णित विशाल आगम साहित्य के अतिरिक्त जैनाचार्यों ने प्राकृत भाषा में प्रचुर परिमाण में काव्य तथा कला साहित्य का सर्जन किया। पादलिप्त की तरंगवइ, विमल सूरि का पउमचरिउ, संघदासगणी का 'वसुदेव हिण्डी', हरिभद्र की 'समराइच्चकहा' आदि इस विषय की गौरवपूर्ण उपलब्धियाँ हैं। इसके अतिरिक्त जिनेश्वर सूरि का 'कथाकोष प्रकरण', जिनचन्द्र का 'संवेग रंगशाला', देवभद्र और गुणभद्र का 'कहारयणकोस', नेमिचन्द्र सूरि का 'आख्यान मणिकोश', आचार्य सुमति सूरिका 'जिनदत्ताख्यान', महेन्द्र सूरि की 'नर्मदासुन्दरी' सोमप्रभसूरि का 'कुमारपाल प्रतिबोध', जिनहर्ष सूरि का 'रयण सेहर निवकहा' तथा 'रयणवाल कहा', 'सिरिवाल कहा', 'प्राकृत कथा संग्रह' आदि उल्लेखनीय कथा कृतियाँ हैं। इसके अतिरिक्त व्याकरण, निमित्त, ज्योतिष, सामुद्रिक, आयुर्वेद आदि विषयों पर भी प्राकृत भाषा में विपुल साहित्य की सर्जना हुई।

अतः यह निर्विवाद रूप से स्वीकार्य है कि प्राकृत का साहित्य मानव संस्कृति की अक्षय निधि है, जिसकी कल्याणी वाणी की लहरियों में गोते लगा-लगाकर मानव युगों-युगों अपने जीवन के नवीन एवं स्वस्थ पथ का संधान करता रहेगा, एक स्वर्णिम लोक के निर्माण का दिव्य आलोक पाता रहेगा।

संस्कृत भाषा और साहित्य

संस्कृत भाषा, जैसा कि पूर्व बताया जा चुका है, बहुत प्राचीन भाषा है। जैन संस्कृति में साहित्य का प्रचलन, हालाँकि प्राकृत भाषा में ही उपलब्ध है, किन्तु गहराई में जानें पर यह पता चलता है कि जैन धर्म का १४ पूर्व-साहित्य संस्कृत भाषा में ही निर्मित था[13]

---

१३. (क) पूर्वाणि संस्कृतानि वेदित व्यानि।

—हीर प्रश्न, ३. उल्लास, हीर विजयसूरि

(ख) प्रज्ञावन्मुनीन्द्रयोग्यानि चतुर्दशापि
पूर्वाणि संस्कृतान्येव श्रूयन्ते।

—आचार प्रदीप, सिद्धसेन दिवाकर अधिकार

क्लिष्ट शब्दावली में निर्मित होने के कारण जन-सामान्य उसे समझने में असमर्थ था, अतः उन अल्पज्ञ स्त्रियों और पुरुषों की जानकारी के लिए द्वादश अंगों की रचना प्राकृत में की गई।

प्राचीन संस्कृत का द्वितीय उत्थानकाल बड़े गौरव के साथ आरंभ हुआ। इस काल में संस्कृत साहित्य में बड़े महत्व के तथा स्थायी साहित्य का निर्माण आरंभ हो गया। लोगों के बीच यह धारणा व्याप्त हो चली कि किसी भी सिद्धान्त को स्थायित्व प्रदान करने के लिए उसे संस्कृत भाषा में निबद्ध होना परमावश्यक है। इस विचारधारा से जैन साहित्यकार भी अछूते नहीं रह सके। फलतः संस्कृत में पुनः जैन साहित्य का सर्जन होने लगा।

द्वितीय उत्थानकाल में संस्कृत भाषा में सर्वप्रथम रचना वाचकवर्य उमास्वाति का 'तत्त्वार्थ सूत्र' है। उमास्वाति के समय के विषय में अब तक मतभेद है। पं० सुखलालजी ने भी इस मतभेद का निराकरण न करके पहली शताब्दी अथवा तीसरी चौथी-शताब्दी में उनका होना अनुमानित किया है।[१४] इसके पश्चात् तो संस्कृत भाषा में जैन साहित्य का सृजन विविध विधाओं में प्रचुर परिमाण में हुआ, यथा टीका, काव्य, कथा, छन्द, अलंकार, व्याकरण, कोष, नाटक, स्तोत्र, ज्योतिष, आयुर्वेद एवं नीति आदि।

टीका साहित्य—आचार्य हरिभद्र, शीलांकाचार्य, अभयदेव, मलधारी हेमचन्द्र, मलयगिरि प्रभृति ने आगम साहित्य पर संस्कृत भाषा में टीकाएँ कीं। जैन साहित्य के अतिरिक्त जैनेतर साहित्य पर भी जैनाचार्यों ने टीकाएँ कीं। पाणिनी के व्याकरण पर शब्दावतार व्यास, दिङ्नाग के न्यायप्रवेश पर वृत्ति, श्रीधर की न्यायकंदली पर टीका, नागार्जुन की योगरत्नमाला पर वृत्ति, अक्षपाद के न्यायसूत्र पर टीका, वात्स्यायन के न्यायभाष्य पर टीका, भारद्वाज के वार्तिक पर टीका, श्रीकंठ की न्यायालंकार वृत्ति की टीका तथा मेघदूत, रघुवंश, कादम्बरी, नैषध और कुमारसंभव आदि काव्यग्रन्थों पर भी जैनाचार्यों की सुप्रसिद्ध टीकाएँ हुई हैं।

काव्य और कथा साहित्य—काव्यकला के क्षेत्र में जैनाचार्य किसी भी काव्यकार तथा कलाकार से पीछे नहीं रहे हैं। उन्होंने पद्य और गद्य में उच्चकोटि के काव्य का सर्जन किया है। उनमें

पार्श्वाभ्युदय, द्विसंधानकाव्य, यशस्तिलक, तिलकमंजरी, भरत-वाहुवली महाकाव्य, पद्मानन्द महाकाव्य, धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य, जैन कुमार संभव, यशोधर चरित्र, पांडव चरित्र आदि मुख्य हैं।

कथा एवं आख्यायिका के क्षेत्र में उपमिति भव प्रपंचा, कुवलय-माला, आराधना, कथाकोश, आख्यानमणिकोश, कथारत्नसागर, दान कल्पद्रुम, सम्यक्त्व कौमुदी, कथा रत्नागार आदि उल्लेखनीय कथा ग्रंथ हैं। जैनाचार्यों ने कतिपय गौरवमय पुराणों की भी रचना की है, जिनमें आदिपुराण महापुराण, उत्तरपुराण, हरिवंश पुराण, शांतिपुराण, पुराणसार संग्रह आदि महत्त्वपूर्ण हैं।

छंद-अलंकार—के क्षेत्र में आचार्य हेमचन्द्रकृत छन्दोनुशासन एक गौरवपूर्ण रचना है। इनके अतिरिक्त वाग्भट्ट रचित छन्दोनु-शासन भी मिलता है। एक छन्दोनुशासन जयकीर्ति प्रणीत भी प्राप्त है। इसके अतिरिक्त छन्दोरत्नावली, रत्नमंजूषा, काव्यानुशासन, अलंकार चिंतामणि, अलंकार चूड़ामणि, कविशिक्षा, वाग्भटालंकार, कविकल्पलता, अलंकार प्रवोध, अलंकार महोदधि प्रभृति वड़े ही उपयोगी ग्रंथ संस्कृत साहित्य में रचे गये।

संस्कृत भाषा के **व्याकरण** की रचना में भी जैनाचार्यों ने वड़ा ही महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। पूज्यपाद स्वयम्भू, शाकटायन, शब्दाम्भोज-भास्कर ने संस्कृत में व्याकरण ग्रन्थों की रचना की। किन्तु आचार्य हेमचन्द्र ने सर्वांगपूर्ण व्याकरण 'सिद्ध हेमशव्दानुशासन' की रचना की। उन्होंने व्याकरण के पाँचों अंगों—सूत्र, गणपाठ सहितवृत्ति, धातुपाठ, उणादि और लिंगानुशासन—आदि पर एकाकी रचना करके संस्कृत में स्वतंत्र व्याकरण का निर्माण किया उसके पश्चात् शव्दसिद्धिव्याकरण, मलयगिरि व्याकरण, विद्यानन्द व्याकरण आदि उल्लेखनीय व्याकरण ग्रन्थों की रचना हुई।

संस्कृत भाषा में जैनाचार्यों ने **कोषग्रन्थों** का भी महत्त्वपूण निर्माण किया उनमें से धनंजय नाममाला, अपवर्ग नाममाला, अमरकोश, अभिधान चिंतामणि, अनेकार्थ संग्रह, निघंटु शेष, शार-दीय नाममाला आदि प्रमुख हैं।

जैनाचार्यों का संस्कृत **नाटक-साहित्य** वड़े गौरव के साथ याद किया जाता है। जैसी कि जनश्रुति है, आचार्य हेमचन्द्र के सुयोग्य

शिष्य रामचन्द्र ने तो १०० नाटकों की रचना की, किंतु वे सभी आज उपलब्ध नहीं हैं। उनके नाटकों में–निर्भय भीम व्यायोग, जलविलास, कौमुदी-मित्रानन्द, रघुविलास, रोहिणी मृगांक, वनमाला आदि उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त हस्तीमलजी (१३ वीं शती) ने विक्रांत कौरव, सुभद्रा, मैथिलीकल्याण, अंजना पवनंजय, उदयनराज, भरतराज, अर्जुनराज और मेघेश्वर आदि नाटकों की रचना की। रामभद्र का 'प्रबुद्ध रोहिणेय', यशपाल का 'मोहराज पराजय', जयसिंह सूरि का 'हम्मीरमद मर्दन', रत्नशेखर कृत 'प्रबोध चन्द्रोदय', मेघप्रभाचार्यकृत 'धर्माभ्युदय' आदि के अतिरिक्त सत्य हरिश्चन्द्र, राघवाभ्युदय, यदुविलास, मल्लिकामकरंद, रोहिणीमृगांक, चन्द्रलेखा विजय, मानमुद्रा भंजन, करुणावज्रायुद्ध, द्रौपदी स्वयंवर आदि नाट्य साहित्य की अनमोल निधियाँ हैं।

स्तोत्र साहित्य—में जैनाचार्यों ने प्रचुर रचना की। भक्तामरस्तोत्र, कल्याण मंदिर स्तोत्र, द्वात्रिंशिकाएँ, अन्ययोग एवं अयोग व्यवच्छेदिकाएँ, वृहत्स्वयंभूस्तोत्र स्तुतिविद्या, जिनशतक, विषापहारस्तोत्र, एकीभावस्तोत्र, सरस्वती स्तोत्र, जिनचतुर्विंशतिका, वीतरागस्तोत्र, सिद्धगुण स्तोत्र, चतुर्विंशतिजिन स्तुति, सरस्वती भक्तामर, नेमि भक्तामर स्तोत्र आदि उल्लेखनीय कृतियाँ हैं।

ज्योतिष रत्नमाला एक महत्त्वपूर्ण कृति है। इसके अतिरिक्त गणित तिलक, भारचन्द्र ज्योतिष सार, आरंभ सिद्धि, भुवनदीपक आदि ज्योतिष की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं।

आयुर्वेद के विषय मे भी जैनाचार्यों ने संस्कृत में बड़े महत्त्व की रचनाएँ की हैं। रसावतार, रसायन प्रकाश, जीवकतंत्र, वैद्यसार संग्रह, लक्ष्मण प्रकाश, कल्याणकारक, योगरत्नाकर, सिद्धान्तरसायनकल्प, नागार्जुनकल्प, नागार्जुन कक्ष पुट एवं योग चिन्तामणि प्रभृति बहुमूल्य कृतियाँ हैं।

नीति के क्षेत्र में आचार्य हेमचन्द्र ने 'अर्हन्नीति' नामक एक अमूल्य ग्रंथ की रचना की है, इसमें धर्म के अतिरिक्त राजनीति, युद्धनीति आदि विषयों पर भी बड़ी मौलिक उद्भावना है।

जैन आचार्यों ने अन्य विधाओं एवं विषय-बिंदुओं के अतिरिक्त योग विषय पर भी बड़े ही महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की सर्जना की है।

आचार्य हरिभद्र ने प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में चार योग विषयक ग्रंथों की रचना की, संस्कृत में प्रणीत योगविन्दु एवं योगदृष्टि समुच्चय वड़ी महत्त्वपूर्ण कृति है। आचार्य हरिभद्र के पश्चात् शुभचन्द्र का ज्ञानार्णव भी एक श्रेष्ठ प्रणयन है। आचार्य हेमचन्द्र का 'योगशास्त्र', उपाध्याय यशोविजय का अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद्, योगावतार वत्तीसो, पातंजल योगसूत्र वृत्ति, योगविंशिका (टीका) आदि योग पर अभूतपूर्व उपलब्धियाँ हैं।

इस प्रकार जैनाचार्यों ने संस्कृत भाषा एवं साहित्य में विविध विषयक जो रचनाएँ की हैं, वह साहित्य वाङ्मय की अनमोल निधि हैं। उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से यह वात भी पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है कि कतिपय लोगों की यह भ्रामक धारणा कि जैनाचार्यों ने मात्र धर्म एवं अध्यात्म के शुष्क विषयों का चर्वित चर्वण किया है, निराधार है। वस्तुत: जैनाचार्यों एवं जैन मनीषियों ने साहित्य एवं जीवन के प्रत्येक पहलुओं पर अपनी सधी हुई लेखनी चलाकर एक अमृतमय वरदान विश्व को प्रदान किया है।

अपभ्रंश भाषा और साहित्य

प्राकृत एवं संस्कृत की भाँति अपभ्रंश में रचित जैन साहित्य का भी गौरवमय स्थान है। वस्तुत: संस्कृत और प्राकृत से कहीं ज्यादा जन सामान्योचित व्यवहारक्षम एवं मधुर भाषा अपभ्रंश है। हिन्दी साहित्य का भक्ति और रीतिकालीन साहित्य अपभ्रंश में ही वहुलांश में रचा गया। वस्तुतः अपभ्रंश हिन्दी भाषा की जननी है। इसकी सर्वप्रथम विशेषता यह है कि इस भाषा में संदेशरासक तथा सिद्ध साहित्य (नीति दोहा और वौद्धचर्या पद) को छोड़कर शेष साहित्य प्राय: जैन विद्वानों द्वारा रचे गये हैं।[१४] साहित्यिक दृष्टि में भी अपभ्रंश का विशेष स्थान है। हिन्दी साहित्य की अनेक प्रवृत्तियाँ अपभ्रंश युग की देन हैं। छन्दों की विविधता, सुगम रचनाशैली, परम्परागत काव्यात्मक वर्णन, साहित्यिक रूढ़ियों का निर्वाह, प्रकृति चित्रण, रसात्मकता, भक्ति और शृंगार का पुट आदि

---

१४. आचार्य विजयवल्लभ सूरि स्मारक ग्रंथ, पृष्ठ ३१

प्रवृत्तियाँ अपभ्रंश साहित्य से ही परम्परागत रूप से हिन्दी साहित्य को प्राप्त हुई हैं।[१५]

अपभ्रंश साहित्य पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि इसका विकास ईसा की छठी शताब्दी से आरम्भ हो गया था। लगभग १००० वर्षों तक अपभ्रंश साहित्य भारत भूमि पर पल्लवित-पुष्पित एवं फलित होता रहा। अपभ्रंश का पूरा साहित्य काव्य में प्रणीत हुआ है। काव्य में प्रबन्ध और मुक्तक दोनों में ही रचनाएँ हुई हैं। खंडकाव्य में 'संदेशरासक' एक ही ग्रंथ उपलब्ध है। प्रबन्ध काव्य में प्रकाशित ग्रन्थ–पउम चरिउ, रिट्ठनेमिचरिउ, महापुराण, णायकुमार चरिउ, जसहर चरिउ, भविसयत्तकहा, करकंड चरिउ, णमिणाह चरिउ, पउमसिरि चरिउ, सुदंसण चरिउ, सुलोयणा चरिउ, पास चरिउ, पज्जुण्ण चरिउ एवं सणंकुमार चरिउ हैं। कुछ अप्रकाशित प्रबन्ध काव्य भी प्राप्य हैं, यथा हरिवंश पुराणु, पांडुपुराणु, पद्मपुराणु, सुकोसल चरिउ, मेघेश्वर चरिउ आदि।[१६] मुक्तक काव्य में–रास, चर्चरी, कुलक, फागु, दोहा, नीति आदि रचनाएँ प्राप्त हैं। अपभ्रंश काव्य के आरम्भिक विकास में महाकवि स्वयंभू का उल्लेखनीय स्थान है। महाकवि स्वयम्भू ने अपने ग्रंथ 'स्वयभू छन्द' तथा 'रिट्ठनेमि चरिउ' में गोविन्द, चतुर्मुख, महट्ट, सिद्धप्रभ प्रभृति अपभ्रंश कवियों का उल्लेख किया है। महाकवि स्वयंभू के अतिरिक्त उद्योतन सूरि (कुवलयमाला कहा), दामोदर (उक्ति व्यक्ति प्रकरण) तथा साधु समय सुन्दर गणी (उक्ति रत्नाकर) आदि का योगदान भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इनके अतिरिक्त महाकवि पुष्पदन्त, श्री धनपाल, कवि धाहिल, मुनि कनकामर, हरिभद्र, वीर, नयंदी, पद्मकीर्ति, देवसेनगणी आदि का योगदान आदि स्मरणीय है।

१३ वीं शताब्दी में अपभ्रंश साहित्य का विकास बड़े व्यापक स्तर पर हुआ। इस काल में अपभ्रंश भाषा के अनेक प्रसिद्ध कवि हुए। जैसे, अम्बदेव सूरि (समरारास), जिनपद्मसूरि (स्थूलभद्र-फाग), देल्हण (गयसुकुमालसार), धनपाल (भविसयत्तकहा), प्रज्ञातिलक(कच्छूलिरास), रत्नप्रभसूरि (अंतरंगसंधि), लाखू अथया लक्ष्मण

१५. डा० देवेन्द्रकुमार जैन, संदेशरासक और हिन्दी काव्यधारा,
—सप्तसिंधु, अप्रैल ६० अंक

१६. गुरुदेव श्री रत्नमुनि स्मृति ग्रंथ, पृष्ठ ३३१

(अणुवयरयणपईव), सुमतिगणी (नेमिनाथरास), जिनचन्द्रसूरि (फाग), आबू (आबूरास), हरिदेव (मयण पराजय चरिउ) और पं० रइधू (पउम चरिउ, हरिवंशपुराण, आदिपुराण, सम्यक्त्व भावना, जिनदत्तचउपई आदि अनेक ग्रंथ) आदि। इस काल में शालिभद्र सूरि का 'भरत बाहुबलि रास' रासक ग्रंथों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। १४ वीं–१५ वीं शताब्दी में भी अपभ्रंश का प्रचुर विकास हुआ है। १५ वीं सदी के धनपाल कवि विरचित बाहुबलि एवं लखनदेय कृत णमिणाह चरिउ महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं।

आख्यायिका के क्षेत्र में अपभ्रंश साहित्य में लघुकथाओं का महत्त्वपूर्ण निर्माण हुआ है। इसने नयनंदि रचित 'सकल विधि विधानकहा', चन्द्रकृत 'कथाकोश' एवं रत्नकरंड शास्त्र' अमरकीर्ति निर्मित 'छक्कम्मोवएसु' लक्ष्मण रचित 'अणुवय-रयण-पईउ' रइधूकृत 'पुण्णासव कहा कोसो', बालचन्द रचित 'सुगंधदहमीकहा' तथा 'णिद्दहसत्तमीकहा', विनयचन्द्र प्रणीत 'णिज्झर पंचमीकहा' यशःकीर्ति कृत 'जिणरत्तिविहाण कहा' एवं 'रविव्रतकहा' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।[१७]

इस प्रकार संक्षिप्त दृष्टि फेरने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अपभ्रंश भाषा में विपुल परिमाण में जैन साहित्य का सृजन हुआ है। अभी उसमें और भी शोध की आवश्यकता है।

हिन्दी भाषा और साहित्य

हिन्दी साहित्य के उद्भव और विकास के इतिहास पर जब हम दृष्टिपात करते हैं, तब यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी साहित्य के उद्भव और विकास में जैन मुनियों, एवं जैन साहित्यकारों का योगदान बड़ा महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी भाषा का उद्भव, जो कि इतिहाससम्मत तथ्य है, प्राकृत भाषा से हुआ है। उद्भव तो प्राकृत भाषा से हुआ ही है, साथ ही उद्भव के पश्चात् हिन्दी साहित्य के लगभग मध्यकालपर्यन्त अपभ्रंश भाषा का प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित होता है।

---

१७. डा० हीरालाल जैन 'भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान' पृ० १६४

जैसा कि अपभ्रंश भाषा और साहित्य शीर्षक की विवेच्य-वस्तु के अन्तर्गत हमने देखा है कि अपभ्रंश भाषा में अधिकांश रचनाएँ जैन साहित्यकारों की ही हैं। और, अपभ्रंश का हिन्दी पर स्पष्ट प्रभाव होने के कारण हिन्दी साहित्य में भी जैन साहित्यकारों की रचनाएँ प्रचुर परिमाण में हुई हैं। एक तरह से हिन्दी साहित्य की आधारशिला के न्यासकर्त्ता जैन साहित्यकार ही हैं। डा० रामकुमार वर्मा नें भी इस तथ्य को स्वीकार करते हुए कहा है—'वास्तव में हिन्दी साहित्य की उत्पत्ति और विकास में जैन धर्म का बहुत बड़ा हाथ रहा है। अपभ्रंश में ही जैनियों के मूल सिद्धान्तों की रचना हुई। अपभ्रंश का विकास हिन्दी में होने के कारण हिन्दी की प्रथमावस्था में भी इन सिद्धान्तों पर रचनाएँ हुईं। अतएव भाषाविज्ञान की दृष्टि से ही नहीं, वरन् हिन्दी के प्रारंभिक रूप का सूत्रपात करने में भी जैन साहित्य का महत्त्व है।'[१८]

हाँ, इतना अवश्य है कि जैन साहित्यकारों का वर्ण्य विषय जैन-धर्म के सिद्धान्तों का निरूपण, उसकी व्याख्या-विवेचन करना ही रहा है, अतः अन्य पहलुओं पर कोई विशिष्ट रचना जैन साहित्यकारों ने प्रारंभिक युग में नहीं की। जैन धर्म का सर्वमान्य प्रतिपाद्य निम्न है :
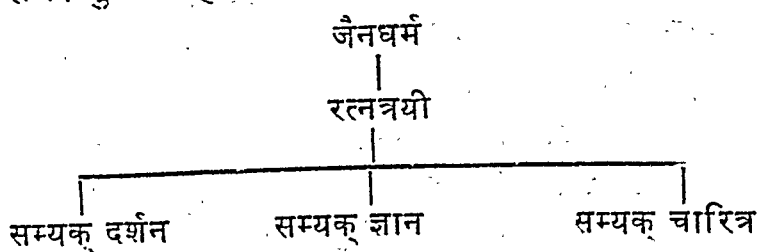
उपर्युक्त सारिणी से स्पष्ट है कि जैनधर्म में रत्नत्रयी की साधना द्वारा जो कि त्रिविध सोपानों से होती हुई मोक्ष पर पहुँचती है, मोक्ष प्राप्ति को ही परमलक्ष्य के रूप में स्वीकारा गया है। यह मोक्ष प्राप्ति का लक्ष्य अन्य धर्मों में भी समान रूप से पाया जाता है, किन्तु जैन धर्म में जितनी बड़ी निर्वेद (शांत) साधना का प्राविधान है, वह बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। जैन धर्म में साहित्य की जितनी

१८. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० १०२

सर्जना हुई है, वह सब इन्हीं सिद्धान्तों के प्रतिपादन रूप में हुई है। चूँकि जैन धर्म का मूल साहित्य प्राकृत (अर्ध मागधी) भाषा अथवा अपभ्रंश भाषा में विशेष रूप से प्राप्त है, अत: उसका हिन्दी में प्रचुर परिमाण में अनुवाद भिन्न-भिन्न मुनियों एवं साहित्यकारों द्वारा हुआ। अत: जैनधम सम्बन्धी हिन्दो में जितने बड़े परिमाण में अनूदित साहित्य पाया जाता है, मौलिक साहित्य उतने परिमाण में नहीं पाया जाता।

जैन साहित्य के अन्तर्गत पुराण साहित्य, चरित काव्य, कथा काव्य एवं रहस्यवादी काव्य सभी लिखे गये। इनके अतिरिक्त व्याकरण, कोष, श्रृंगार, शौर्य, नीति तथा अन्योक्तिपरक फुटकर काव्यकृतियाँ भी देखने को मिलती हैं।

स्वयंभूदेव—(आठवीं शती) हिन्दी जैन कवियों में सर्वप्रथम नाम स्वयंभूदेव का आता है। इन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ पउमचरिउ में अपभ्रंश भाषा के ऐसे रूप का प्रयोग किया है, जिससे हिन्दी का प्राचीन रूप इंगित होता है। इनकी प्रमुख कृतियाँ निम्न हैं।

१. पउम चरिउ (पद्म चरित्र—जैन रामायण)
२. रिट्ठणेमि चरिउ (अरिष्टनेमि चरित्र–हरिवंशपुराण)
३. पंचमि चरिउ (नागकुमार चरित) और
४ स्वयंभूछन्द

आचार्य देवसेन--आचार्य देवसेन जैनधर्म के दिगम्बर शाखा के कवि थे। इन्होंने जैन धर्म के सिद्धान्तों का वड़ा विशद विवेचन किया है। उनका प्रमुख ग्रन्थ 'नयचक्र' है। इसके अतिरिक्त दर्शनसार भावसंग्रह, आराधनासार, तत्त्वसार, सावयधम्म दोहा उनकी उल्लेखनीय कृतियाँ हैं।

महाकवि पुष्पदंत—(दशवीं शती) ये काश्यप गोत्रीय ब्राह्मण थे और शिवजी के भक्त थे, किन्तु वाद में जैन हो गये थे। ये जैन साहित्य के अत्यन्त प्रसिद्ध महाकवि थे। 'णायकुमार चरिउ' (नागकुमार चरित) इनका प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। इनकी प्रमुख कृतियाँ हैं :

१. तिसट्ठि महापुरिस गुणालंकार (त्रिषष्टि महापुरुष गुणालंकार)

२. णायकुमार चरिउ (नागकुमार चरित्र)
३. जसहर चरिउ (यशोधर चरित)
४. कोश ग्रंथ--यह देशज शब्दों का सुन्दर कोशग्रंथ है।

इसके अतिरिक्त जिन जैन साहित्यकारों ने हिन्दी साहित्य में जैन धर्म सम्बन्धी साहित्य की सर्जना की उनमें निम्न उल्लेखनीय हैं।

धनपाल (भविसयत्त कहा), मुनि रामसिंह (पाहुड़ दोहा), अभयदेवसूरि (जय तिहुअण), श्री चन्द्रमुनि (पुराणसार), कनकामर मुनि (करकंडु चरिउ), णयनंदिमुनि (सुदंसण चरिउ), श्री जिनवल्लभ सूरि (वृद्ध नवकार), श्री णिनदत्त सूरि (चाचरि, कालस्वरूप कुलक), उवसए (सायण), योगचन्द्र मुनि (योगसार), आचार्य हेमचन्द्र सूरि (सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन, योगशास्त्र, प्राकृत व्याकरण, छन्दोनुशासन, देशी नाममाला कोष), हरिभद्रसूरि, शालिभद्र सूरि, सोमप्रभ सूरि, जिनपद्म सूरि, विनयचन्द्र सूरि, (नेमिनाथ चउपई) धर्मसूरि, विजयसेन सूरि, मेरुतुंग (प्रबंध चिन्तामणि), अम्बदेव सूरि, राजशेखर सूरि आदि।

१५ वीं शताब्दी में श्वेताम्बराचार्य विजयभद्र ने 'गौतम रासा' की रचना की, विद्धणू ने 'ज्ञान पंचमी चउपई' तथा दयासागर सूरि ने 'धर्मदत्त चरित्र' नामक प्रसिद्ध ग्रंथों की रचना की। उसके बाद भी जैन साहित्य की विकासमानधारा निरंतर आगे बढ़ती गई। जैन साहित्य का हिन्दी में प्रचुर प्रणयन होता रहा। उन सबों का, साहित्य, इतिहास, धर्म-अध्यात्म आदि की दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है।

मध्यकाल के धार्मिक आन्दोलन को भी जैन साहित्यकारों ने तथा जैन सिद्धांतों से काफी प्रभावित किया। और, साहित्य में युद्ध साहित्य के बजाय प्रचुर परिमाण में भक्तिपरक साहित्य का सृजन होने लगा। इस साहित्य में, अहिंसा, सत्य, प्रेम, करुणा, समता आदि पर बड़े परिमाण में साहित्य रचे गये।

आधुनिक युग में जैन साहित्य सर्जना की एक विशाल एवं व्यापक परम्परा देखी जा रही है। जहाँ एक ओर जैन मुनिराजों द्वारा आगमों पर भाष्य, व्याख्या एवं टीका साहित्य तथा मौलिक उद्भावनाओं से पूर्ण साहित्य की सर्जना होरही है, वहाँ दूसरी ओर विभिन्न

शोधार्थियों द्वारा जैन सिद्धांतों पर तथा उनसे सम्बन्धित विषयों पर शोध प्रवन्ध तैयार किए गए हैं, आगे भी तैयार किए जा रहे हैं। इनके अतिरिक्त अन्य लेखकों, संपादकों एवं पत्रकारों द्वारा जैन साहित्य पर व्यापक रूप से साहित्य सर्जना की जा रही है।

आधुनिक जेन मुनिराजों में जिनके नाम महत्त्वपूर्ण हैं, वे निम्न हैं :

१. **राष्ट्रसंत कविरत्न उपाध्याय अमरमुनि**—आप अधुनायुग के समन्वयवादी एवं समीचीनतावादी विचारधारा के महान् संत हैं। आपने शताधिक पुस्तकों की रचनाएं की हैं, जिनमें 'निशोथ चूर्णि भाष्य', 'सूक्ति त्रिवेणी' 'चिंतन की मनोभूमि' और 'चिन्तन के मुक्तस्वर' विशेष उल्लेखनीय कृतियाँ हैं।

२. **मुनि नगराज, डी. लिट्**—इन्होंने 'आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन' नामक शोध प्रवन्ध तैयार किया है, जिस पर उन्हें डी. लिट्. की उपाधि से सम्मानित किया गया है। इसके अतिरिक्त इनकी और भी अनेक महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं।

इन मुनिराजों के अतिरिक्त, आचार्य तुलसी, मुनि विद्यानंद, पं० विजयमुनि शास्त्री, देवेन्द्र मुनि शास्त्री, मुनि महेन्द्रकुमार प्रथम तथा द्वितीय, चन्दनमुनि, मुनि कन्हैयालाल 'कमल', सुशीलमुनि, हीरामुनि 'हिमकर', गणेशमुनि शास्त्री, साध्वी चन्दना, दर्शनाचार्य, साध्वी मंजुश्री, साध्वी सरलाजी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

शोध प्रवन्धकारों में सर्वश्री डा० कृष्णदत्त वाजपेयी, डा० हीरालाल जैन, डा० मोहनलाल मेहता, डा० हरीन्द्रभूषण जैन, डा० नथमल टांटिया, डा० सुदर्शनलाल, डा० अजित शुकदेव, डा० वशिष्टनारायण सिन्हा, डा० रणदवे, डा० नरेन्द्र भानावत, डा० भागचन्द्र जैन 'भास्कर', डा० भागचन्द जैन 'भागेन्दु', डा० कोमलचन्द, डा० राजकुमार जैन, डा० इन्द्रचन्द्र शास्त्री, डा० जयकिशन प्र. खंडेलवाल, डा० नेमीचन्द्र जैन, डा० सागरमल जैन प्रभृति के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

इनके अतिरिक्त अन्य अनेक वैसे व्यक्ति हैं जिन्होंने जैन साहित्य पर अथवा जैन धर्म संबंधी विषय पर शोध प्रबंध तैयार कर लिया

हैं, तथा अन्य अनेक तैयार करने में संलग्न हैं, जिन सभी लोगों के नाम स्थानाभाव के कारण यहाँ देना संभव नहीं है।

हाँ, जैन साहित्य के शीर्षस्थ प्रतिभासम्पन्न लेखकों में पं० सुखलालजी, पं० वेचरदास डोशी, दलसुख मालवणिया, रिषभदास रांका, प्रो० चम्पालाल सिंघई, प्रो० रामाश्रय प्र० सिंह प्रभृति के नाम हिन्दी के जैन साहित्यकारों में आदर के साथ लिए जाएँगे।

जैसा कि पहले इंगित किया गया है, हिन्दी की जैन पत्र-पत्रिकाएँ जो कि आज विपुल परिमाण में निकल रही हैं, जैन साहित्य के विकास में उनके संपादकों तथा उनसे सम्बद्ध लेखकों का योगदान महत्त्वपूर्ण है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी के उद्भवकाल से भी पूर्व से जबकि अपभ्रंश भषा जन-जीवन के बीच प्रचलित थी, जैन साहित्यकारों ने धर्म, अध्यात्म, दर्शन, समाज, राष्ट्र, संस्कृति, सभ्यता आदि विषय-बिन्दुओं से सम्बद्ध रचनाएँ करके जन-सामान्य के बीच प्रचलित किया, धर्म की नींव को सुदृढ़ किया। हिन्दी साहित्य का आदिकाल तो जैन साहित्यकारों की रचनाओं की आधारभित्ति पर ही स्थित है, मध्यकाल पूर्णतः प्रभावित है, रीतकाल सम्पन्न है तथा आधुनिक काल विविध विधान्तर्गत प्रणीत कृतियों से भव्य विकास पा रहा है। आज तो जैनधर्म की युगभाषा के रूप में हिन्दी भाषा ही प्रतिष्ठित है।

राजस्थानी भाषा और साहित्य

राजस्थानी भाषा—यह नाम इस भाषा का आदिनाम नहीं है। जब प्रदेश का नाम राजस्थान पड़ा, तभी से इसे इस नाम से अभिहित किया जाता है। भारत की स्वतंत्रता से पूर्व राजस्थान २१ छोटे-बड़े विभागों में बँटा हुआ था। इसके अतिरिक्त अजमेर-मेरवाड़ा का प्रदेश अंग्रेजी शासन में अलग से संयुक्त था। ये २१ राज्य थे—१. उदयपुर, २. डूंगरपुर, ३. बाँसवाड़ा, ४. प्रतापगढ़, ५. शाहपुरा, ६. करौली, ७. जैसलमेर, ८. बूँदी, ९. कोटा, १०. सिरोही, ११. जयपुर, १२. अलवर, १३. जोधपुर, १४. बीकानेर, १५. किशनगढ़, १६. दांता, १७. झालावाड़, १८. भरतपुर, १९. धौलपुर, २०. पालन

पुर तथा २१. टौंक। इस राज्य के लिए जार्ज टॉमस ने सन् १८५७ में राजपूताना[१९] नाम का प्रयोग किया। उसके उपरान्त कर्नल टॉड ने अपने इतिहास में राजपूताना को राजस्थान के नाम से संबोधित किया[२०] पुराकाल में इस प्रदेश के भिन्न-भिन्न भूखंडों के भिन्न-भिन्न नाम थे। जैसे—उत्तरी भाग का नाम जांगल, पूर्वी भाग का नाम मत्स्य, दक्षिणी-पूर्वी का शिविदेश, दक्षिण का मेदपाट, बागड़, प्राग्वाट, मालव एवं गुर्जरत्रा, पश्चिम का मद, माडवल्ल, त्रवणी, तथा मध्यभाग का अर्बुद और सपालदक्ष[२१] साल्व जनपद[२२] तथा पारियात्र मंडल[२३] भी इस प्रदेश के ही अंग थे। अधुनातम स्थिति में यह प्रदेश प्राकृतिक दृष्टि से दो भागों में विभक्त है, जिसे अरावली पर्वत विभाजित करता है--प्रथम, उत्तर-पश्चिमी भाग जिसके अंतर्गत बीकानेर, जैसलमेर, जोधपुर तथा जयपुर का कुछ भाग जिन्हें समग्र रूप से मारवाड़ अथवा मरुदेश कहते हैं। तथा दूसरा, दक्षिणी-पूर्वी भाग, जिसके अंतर्गत बाकी सभी देशी राज्य तथा अजमेर-मेरवाड़ा के राज्य सम्मिलित हैं। और दोनों भागों को राजस्थान राज्य के नाम से संबोधित किया जाता है, तथा इसी राज्य के नामसाम्य के अनुसार इस राज्य की भाषा को राजस्थानी भाषा कहते हैं।

राजस्थानी भाषा और साहित्य के विकास में जितना अन्य साहित्यकारों ने योगदान दिया है, जैन साहित्यकारों का योगदान उसमें अपना गौरवपूर्ण स्थान रखता है।

राजस्थानी भाषा में वज्रसेन सूरि प्रणीत 'भारतेश्वर-बाहुबलि-घोर' पुरानी राजस्थानी की प्राचीनतम रचना है। इसी प्रकार शालिभद्र सूरि रचित 'भरतेश्वर-बाहुबलीरास' नामक खंडकाव्य है जो

---

१९. विलियम फ्रेंकलिन मिलिट्री मेमाइर्स आव मिस्टर जार्ज ट मस—पृ० ३४७

२०: Annals and Antiquities of Rajsthan, Part I

२१. विजयराजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रन्थ पृष्ठ ७१८ तथा
पृथ्वीसिंह मेहता : हमारा राजस्थान

२२. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल : 'साल्व जनपद'
—राजस्थान भारती, भाग ३, अंक ३-४

२३. पृथ्वीसिंह मेहता : हमारा राजस्थान, पृष्ठ २०-२२

पुरानी राजस्थानी का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। यह संवत् १२४१ की रचना है। तेरहवीं शताब्दी में बुद्धिरास, जंबू स्वामी चरित, स्थूलिभद्ररास, रेवंत गिरि रासो, आबूरास, जीवदया रासु तथा चंदनबाला रास उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। चौदहवीं शताब्दी में नेमिनाथ चतुष्पिका, सप्तक्षेत्रि रासु, जिनेश्वर सूरि दीक्षा-विवाह वर्णना रास सम्यक्त्व माई चउपई, समरारासो, श्री स्थूलिभद्र फाग, चर्चरिका, सालिभद्र कक्क, दूहा मातृका आदि कृतियाँ प्रमुख हैं।

पन्द्रहवीं शताब्दी में जिन कवियों ने अपनी रचनाओं द्वारा राजस्थानी को गौरवान्वित किया उनमें—सर्वश्री तरुणप्रभ सूरि, विनय प्रभ, मेरुनन्दन, राजशेखर सूरि, शालिभद्र सूरि, जयशेखर सूरि, हीरानन्द सूरि, रत्नमंडण गणि तथा जयसागर के नाम उल्लेखनीय हैं।

सोलहवीं शताब्दी में महोपाध्याय जयसागर दरड़ा गोत्रीय का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। उनकी 'जिनकुशल सूरि सप्ततिका' का तो बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन्होंने छोटी-बड़ी ३२ कृतियों की रचना की। इनके अतिरिक्त राजस्थानी साहित्य की श्री वृद्धि करने वाले कृतिकारों में सर्वश्री देपाल, ऋषिवर्द्धन सूरि, मति शेखर, पद्मनाभ, धर्म समुद्रगणि, सहजसुन्दर, पार्श्वचन्द्र सूरि, छीहल, विनय समुद्र, राजशील आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

सत्रहवीं शताब्दी में सर्वश्री पुण्यसागर, कुशलप्रभ, मालदेव, हीरकलश, कनकसोम, हेमरत्न सूरि, उपाध्याय गुणविजय, समय सुन्दर आदि के नाम विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इनके अतिरिक्त जिन कवियों के नाम उल्लेखनीय हैं, उनमें सर्वश्री विजयदेव सूरि, जयसोम, नयरंग, कल्याणदेव, सारंग, मंगल-माणिक्य, साधु कीर्ति, धर्मरत्न, विजय शेखर तथा चरित्र सिंह आदि के नाम लिये जा सकते हैं।

अठारवीं शती में रास, चौपई के अतिरिक्त लावनी, छत्तीसी, बत्तीसी आदि काव्यरूपों में भी प्रचुर परिमाण में रचनाएँ हुईं। इस काव्य के सर्जकों में कविवर जिनहर्ष का स्थान प्रमुख है। इन्होंने एक लाख पद्यों को रचना रास, चौपई, वार्तासूत्र, दशवैकालिक गीत आदि के रूप में की, बताया जाता है। इनके अतिरिक्त महोपाध्याय लब्धोदय, मर्मवर्धन लाभवर्द्धन, कुशलधीर,

जिन समुद्र सूरि, लक्ष्मी वल्लभ, राम विजय आदि प्रसिद्ध साहित्यकार हुए। राम विजय ने पद्य की अपेक्षा गद्य में अधिक रचनाएँ कीं।

उन्नीसवीं शदी में रघुपति, ज्ञानसार, क्षमाकल्याण, आचार्य जयमल आदि अनेक साहित्यकार हुए। इस काल में तेरापंथी के संस्थापक आचार्य रमणजी ने राजस्थानी जैन साहित्य में एक नया स्रोत बहाया। उन्होंने आचार क्रांति करके तेरापंथ की स्थापना की थी, अतः उनके लेखन में उसी क्रांति भावना का उद्दाम स्वर विस्फुटित हुआ है। उनका समग्र साहित्य ३८ सहस्र पद्यप्रमाण है।

वीसवीं शती के साहित्यकारों में श्री जयाचार्य का उल्लेखनीय स्थान है। उन्होंने राजस्थानी में साढ़े तीन लाख पद्यप्रमाण साहित्य लिखा है। उनकी लेखनी से गद्य और पद्य—दोनों ही क्षेत्रों में साधिकार सर्जना हुई है।

जयाचार्य के पश्चात् आचार्य तुलसी तथा उनके शिष्यसंघ के विद्वान् शिष्य आज भी राजस्थानी भाषा और साहित्य मे रचनाएँ करके राजस्थानी भाषा और साहित्य के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं। इनके अतिरिक्त भी बहुत से उल्लेखनीय साहित्यकार हैं, जिनका स्थानाभाव के कारण यहाँ उल्लेख करना संभव नहीं।

गुजराती भाषा और साहित्य

गुजरात प्रदेश जैन धर्म का एक प्रधान केन्द्र रहा है। बहुत प्राचीन काल से गुजरात में जैन धर्म के प्रचलित होने के प्रमाण मिलते हैं। जैन धर्म के २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ के गिरिनार में समाधि लेने और ई० ५वीं शती में मुनि सुव्रत तीर्थंकर के शकुनि-बिहार नामक आश्रम, भृगुकच्छ में होने का उल्लेख अनेक विद्वानों ने किया है।[२४] इसके अतिरिक्त वल्लभी के राजा शिलादित्य (५वीं शती), वृद्धपुर के राजा ध्रुवसेन (५वीं शती) और फिर आगे चलकर वनराज चावड़ा आदि के जैनधर्म में दीक्षित होने का उल्लेख मिलता है। इन ऐतिहासिक उल्लेखों तथा गिरनार, पावागढ़ आदि सिद्ध क्षेत्रों

---

२४. मध्यकालीन गुजराती साहित्य —क० मा० मुंशी

से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन धर्म का गुजरात में पर्याप्त प्रचार रहा है।[२५]

१५वीं शती के पहले के गुजराती साहित्य का अवलोकन करने से यह पता चलता है कि आरंभ से १५वीं शती तक गुजराती पर जैन साहित्यकारों का ही प्रभाव विशेष है। जैनेतर साहित्यकार नगण्य हैं। प्राचीन गुजराती साहित्य को इसीलिए विद्वानों ने प्राचीन जैन साहित्य के नाम से पुकारना ज्यादा अच्छा माना है।[२६]

गुजराती भाषा और साहित्य का आरंभ, इतिहास लेखकों ने नरसिंह मेहता (१६वीं शती ई०) से माना है, किंतु वस्तुतः गुजराती भाषा का सहीरूप में आरंभ हेमचन्द्राचार्य (१२वीं शती ई०) से हुआ है। इसी मत की पुष्टि सर्वश्री पं० बेचर दास, केशवराम का. शास्त्री तथा अन्य विद्वानों ने की है। प्राग्नरसिंह युग के साहित्य में हेमचद्राचार्य का वड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। हेमचन्द्राचार्य के अतिरिक्त मेरुतुंग (१३०५ ई०) का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन्होंने 'प्रबंध चिंतामणि' की रचना करके अपूर्व ख्याति अर्जित की। मेरुतुंग के वाद अनेक जैन कवियों ने रास, फाग, बारहमासी आदि विधाओं में साहित्य-सर्जना की।

जिस प्रकार से हिन्दी में रासो काव्यरूप में साहित्य रचना हुई, गुजराती में 'रास' के नाम से हुई। गुजराती रास साहित्य की मुख्य विशेषता है कि उसके सर्जक जैन कवि हो रहे हैं। इन रास रचनाओं में सालिभद्र सूरिकृत 'भरतेश्वर बाहुवलिरास' (११८५ ई०), धर्म सूरि कृत 'जम्बुसामि चरिय' (१२१० ई०), जिनदत्त सूरिकृत 'रेवंत गिरि रासु' महत्त्वपूर्ण हैं। इसके अतिरिक्त पैथडरास, कछुलोरास एवं समरारास ऐतिहासिक तथ्यों से पूर्ण उल्लेखनीय कृतियाँ हैं।

फाग काव्यरूप में, जो कि रास का ही एक विशिष्ट प्रकार है, जैन कवियों ने नेमराजुल और स्थूलभद्र कोश्वा को नायक-नायिका मानकर उन पर अनेकों रचनाएँ की हैं। गुजराती फागु काव्यों में

---

२५. गुजरात की हिन्दी सेवा, अंवाशंकर नागर ना० प्र० पत्रिका वर्ष ६३, अंक २ पृ० १४०

२६. वही वही पृ० १४१

जिन पद्मसूरिकृत 'सिरिथूलिभद्द फागु' (१३३४ ई०), राजशेखर सूरि कृत 'नेमिनाथ फागु' (१३४४ ई०) महत्त्वपूर्ण हैं।

बारहमासी काव्य में बारहों महीने का ऋतु वर्णन क्रमिक रूप में होता है। बारह मासों की परम्परा में 'बीसलदेव रासो' प्रथम बारहमासा है। इसके अतिरिक्त 'नेमिनाथ चतुष्पदिका' (१२१४ ई०में रचित) एक सुन्दर बारहमासा है। प्राग् नरसिंह युग तक प्रायः यह देखा गया है कि जैन कवि साम्प्रदायिक सिद्धान्तपरक रचनाएँ ही करते रहे, यह काल १० वीं शती से १७ वीं शती तक रहा।

नरसिंह मेहता के पश्चात् (१७ वीं शती के पश्चात्) गुजराती के जैन कवि साम्प्रदायिकता के संकीर्ण बंधनों को छोड़कर लोकहितार्थ व्यापक विषय क्षेत्रों में रचनाएँ करने लगे। जैन कवि भी संत कवियों की भाँति, उनके स्वर में स्वर मिलाकर संगीतात्मक पद्यों एवं मुक्तकों में प्रेम, मस्ती, अनासक्ति, रूढ़ियों की व्यर्थता, अंतर्मुखी प्रवृत्ति, संयम, शील और सदाचार का उपदेश देने लगे। इस युग के साहित्यकारों में आनंदघन, ज्ञानानंद, विनयविजय, यशोविजय, किशनदास और श्रीमद् रायचंद्र के नाम विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

इनके अतिरिक्त गुजराती के जैन कवियों ने रामायण, महाभारत जैसे पौराणिक आख्यानों, तीर्थंकरों के जीवन चरित्रों तथा अनेकानेक लघु आख्यायिकाओं की सर्जना करके गुजराती भाषा को समृद्ध किया है।

आधुनिक गुजराती में भी अनेक जैन साहित्यकार जैनधर्म सम्बन्धी रचनाओं की सर्जना में प्रवृत्त हैं।

मराठी भाषा और साहित्य

मराठी भाषा में जैन साहित्य अधिक प्राचीन समय में नहीं पाया जाता। इसमें जैन साहित्य सर्जना का आरंभ करने वालों में भट्टारक सम्प्रदाय के जैनमुनि ही प्रमुख रूप से हैं। प्रमुख साहित्यकारों के नाम निम्न द्रष्टव्य हैं।

भट्टारक जिनदास—ये मराठी जैन साहित्य के प्रथम ज्ञातकर्त्ता थे। इनका समय ई० १७२८ से १७७८ तक का बताया जाता है। इनकी महत्त्वपूर्ण कृति हरवंश पुराण (पूर्वार्द्ध) है।

गुणदास अपरनाम गुणकीर्ति—ये भी मराठी के अच्छे विद्वान् थे। इन्होंने श्रेणिक पुराण, रुक्मिणीहरण, धर्मामृत की रचना मराठी में की है। पद्म पुराण की रचना भी इन्होंने आरंभ की थी, जो पूरी न हो पाई। इनके अतिरिक्त सर्व श्री मेघराज, कामराज, वीरदास अपरनाम पासकीर्ति (१६२७ ई०), महाकीर्ति (१६६६ ई०), लक्ष्मीचद्र (१७२८ ई०), जनार्दन (१७६८ ई०) महित सागर, दामा, विशालकीर्ति गगादास, जिनसागर, रत्नकीर्ति, जिनसेन, ठकाप्पा, मकरंद, सटवा और देवेन्द्रकीर्ति आदि साहित्यकारों के नाम उल्लेखनीय हैं। ये सभी लेखक मराठी की प्राचीनधारा के आधारस्तंभ माने जाते हैं। मराठी के आधुनिक साहित्य में भी, अनेक आधुनिक साहित्यकार साधनारत हैं।

द्राविड़-भाषा-परिवार

जिस प्रकार से उत्तर भारत में प्रधानतया आर्य भाषा परिवार की भाषाएँ व्यवहृत हैं, दक्षिण भारत में द्राविड़-भाषा परिवार की भाषाएँ अबाध रूप से प्रचलित हैं। हम जानते हैं कि साहित्य और संस्कृति—वाङ्मय की दो प्रमुख धाराएं हैं, जो क्रम से सर्वदिश संचरण करती हैं। इस सर्वदिशसंचरण में यह स्वाभाविक है कि वे स्थान-स्थान की संस्कृति एवं साहित्य से प्रभावित हों तथा स्थान-स्थान की संस्कृति एवं भाषा को प्रभावित करें। और इस क्रम में उत्तर भारत की, आर्य भाषा-परिवार की भाषाएँ, मुख्य रूप से संस्कृत भाषा ने दक्षिण की द्राविड़-भाषा-परिवार को प्रभावित किया तथा उन भाषाओं से भी प्रभावित हुई। यही कारण है कि दक्षिण की भाषाओं में संस्कृत शब्दावली का बहुलता में प्रयोग होता है। संस्कृत में भी दक्षिण की शब्दावली का प्रयोग पाया जाता है। 'नीर, पल्लि, मीन, वल्लि, मुकुल, कुंतल, काक, ताल, मलय, कलि, कल्प, तल्प और खर्ज आदि शब्द द्राविड़ भाषाओं से ही संस्कृत में आए हैं।[२७] द्राविड़-भाषा-परिवार की प्रमुख भाषाएँ—तमिल, तेलगु, मलयालम, कन्नड़ में जैन साहित्यकारों ने

---

२७. डा० काल्डीवेल : करनाटक कवि चरित, भाग—३ (प्रस्तावना)

रचनाएँ की हैं। यहाँ दक्षिण की भाषाओं—तमिल एवं कन्नड़ में जैन साहित्यकारों के योगदान पर संक्षिप्त दृष्टि डालेंगे।

तमिल भाषा और साहित्य

तमिल भाषा द्राविड़-भाषा-परिवार की सर्वाधिक प्राचीन भाषा है। यों इसके उद्भव काल के विषय में अभी ठीक-ठीक पता नहीं चल सका है। किंतु, बहुत से विद्वान् इसे ईस्वी सन् से शताब्दियों पूर्व की समृद्धतम भाषा मानते हैं। तमिल के सम्पूर्ण साहित्य को तीन कालों—संघकाल, शैशवकाल और अर्वाचीनकाल के रूप में विभाजित कर सकते हैं। ईस्वी पूर्व पंचम शताब्दी से लेकर ईस्वी सन् ५ वीं-छठी शताब्दी तक के एक हजार वर्ष के समय को संघकाल माना गया है। यही काल प्रमुखतः जैन-साहित्य-काल का रहा है। तमिल के इस मूल को जैन साहित्यकारों ने ही अपनी बहुविध साधना द्वारा सींचा था। 'यह जैनों के ही प्रयत्नों का फल था कि दक्षिण में नये आदर्शों, नये साहित्य और नये भावों का संचार हुआ।[२८] जैन लोग बड़े विद्वान् और ग्रंथ रचयिता थे। वे साहित्य और कला प्रेमी थे। जैनों की तमिल सेवा तमिल प्रदेशवासियों के लिए अमूल्य है। तमिल भाषा में संस्कृत शब्दों का उपयोग पहले-पहल सबसे अधिक जैनों ने ही किया। उन्होंने संस्कृत शब्दों को उच्चारण की सुगमता की दृष्टि से यथेष्ट रूप से बदला भी है। कुरल् के पश्चाद्वर्ती युग में प्रधानतः जैनों की संरक्षता में तमिल-साहित्य अपने विकास की चरम सीमा तक पहुँचा। तमिल साहित्य की उन्नति का वह सर्वश्रेष्ठ काल था। वह जैनों की प्रतिभा का समय था।[२९]

जैन साहित्यकारों द्वारा प्रणीत कतिपय ग्रंथ बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं। यथा—तोलकाप्पियम, तिरुक्कुरल्, नालडियार, शिलप्पदिकारम्, वलैयापति और जीवक चिंतामणि आदि। 'जीवकचिंतामणि' तमिल भाषा का सर्वोत्कृष्ट काव्य है। तमिल में पाँच लघुकाव्य की भी

---

२८. A Literary History of India.

२९. रामस्वामी आय्यंगार

सर्जना हुई है, जो कि महत्त्वपूर्ण है। ये लघुकाव्य हैं—यशोधर काव्य, चूलामणि, उदयन् कथै, नागकुमार काव्य और नीलकेशि।

उपर्युक्त ग्रंथों के अतिरिक्त अनेरिच्चारम्, पलनोलि आदि नीति ग्रंथ; मेरुमंदरपुराणम्, श्रीपुराणम् आदि पुराण ग्रंथ; यप्परंगुलक्क-रिकै, यप्परंगुलवृत्ति, नेमिनाथम्, और नानूल आदि व्याकरण-ग्रंथ; अच्चनंदिमालै आदि छंदशास्त्र और जिनेन्द्रमालै आदि ज्योतिष-ग्रंथ भी जैन साहित्यकारों की तमिल भाषा में महत्त्वपूर्ण कृतियाँ मानी जाती हैं।[30]

कन्नड़ भाषा और साहित्य

द्राविड़-भाषा-परिवार की भाषाओं में कन्नड़ सबसे अधिक समृद्ध भाषा है। यहाँ इतना जान लेना आवश्यक है कि कन्नड़ भाषा को प्रौढ़ साहित्यिक रूप प्रदान करने में जैन साहित्यकारों को ही सर्वाधिक श्रेय प्राप्त है। यदि कन्नड़ भाषा में से जैन साहित्य को निकाल दिया जाए, तो कन्नड़ भाषा का प्राचीन काल एक तरह से समाप्त ही हो जाए। "लगभग ईस्वी छठी शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक सात-आठ सौ वर्ष सम्बन्धी जैनों के अभ्युदय-प्राप्ति-निमित्त जो वाङ्मय है, उसका अवलोकन करना समुचित है। तत्कालीन करीब २८० कवियों में ६० कवियों को स्मरणीय एवं सफल मान लेने पर इनमें ५० जैन कवियों के नाम ही हमारे सामने आ उपस्थित होते हैं। इन ५० कवियों में ४० कवियों को निःसन्देह हम प्रमुख मान सकते हैं। लौकिक चरित्र, तीर्थंकरों के पारमार्थिक पुराण और दार्शनिक आदि अन्यान्य ग्रंथ भी जैनों के द्वारा ही जन्म पाकर कन्नड़ साहित्य पर अपना शाश्वत प्रभाव जमाए हुए हैं।"[31]

कन्नड़ भाषा के साहित्य को काल की दृष्टि से प्राचीनकाल, मध्यकाल और आधुनिक काल—के रूप में प्रमुखतः तीन कालों में विभाजित कर सकते हैं।

प्राचीन काल—(छठी शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक),

---

३०. मुनि बुद्धमल : भारतीय भाषाओं में जैन साहित्यकारों की देन, पृ० ३६

३१. शेष वी० पारिशवाड़े

मध्यकाल—बारहवीं शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी तक) और
आधुनिक काल—(सत्रहवीं शताब्दी से अब तक)

इनमें प्राचीन काल मुख्यत: जैन साहित्य का काल है। कन्नड़ के जैन साहित्यकारों में महाकवि पंप का नाम गौरव के साथ याद किया जाता है। इस भाषा में पोन्न, रन्न और जन्न—ये तीनों कवि 'रत्नत्रय' कहे जाते हैं। कंति कन्नड़ की आदि कवयित्री मानी जाती है। उसे 'अभिनव वाग्देवी' की उपाधि प्राप्त थी। कन्नड़ साहित्य में जिन कृतियों एवं कृतिकारों का महत्त्वपूर्ण स्थान है, उनमें प्रमुख हैं—महाकवि पंप (आदिपुराण, सन् ९४१), पोन्न (शांतिनाथ पुराण सन् ९५० लगभग), रन्न (अजितनाथ पुराण, सन् ९९३), चंडुराय (त्रिषष्टिशिलाका पुराण, सन् ९७८), अभिनव पंप—नागचन्द्र (मल्लिनाथ पुराण, सन् ११००), बंधु वर्मा (हरिवंश पुराण, सन् १२००), कुमुदेंदु (रामायण, सन् १२७५ लगभग), रत्नाकरवर्णी (भरत वैभव, सन् १५५७) आदि। ये कतिपय ग्रंथ तो संदर्भ रूप में यहाँ परिगणित किये गये हैं, किन्तु इनके अतिरिक्त काव्य, व्याकरण ज्योतिष, गणित आदि विषयों पर ऐसे सहस्राधिक ग्रंथ हैं, जिनका प्रणयन जैन साहित्यकारों ने किया है।

कन्नड़ के उद्भव काल से लेकर आधुनिककालपर्यंत जैन साहित्यकारों ने, जिनमें श्रमण एवं श्रावक (गृहस्थ) दोनों ही रहे हैं, अपनी अखण्ड साधना का दीप जलाकर उसकी प्रखर ज्योति से कन्नड़ भाषा और साहित्य को चमत्कृत किया है।

इस प्रकार हम भारत की उपर्युक्त प्रमुख भाषाओं के साहित्य पर विहंगम दृष्टि डालने के उपरान्त इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सुदूर प्राचीन काल से लेकर अर्वाचीन कालपर्यंत भारत की अधिकांश भाषाओं के साहित्य में श्रमण संस्कृति एवं श्रमण साहित्य का गौरवपूर्ण स्थान है। उनमें श्रमण संस्कृति के कालजयी स्वर आज भी सुने जाते हैं, और शदियों आगे तक सुने जाते रहेंगे।

—कलाकुमार

☆